आपात्कालीन हिन्दी कविता और नागार्जुन

मास्टर आफ फिलासफी उपाधि के लिए
प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध

जगदीश्वर प्रसाद चतुर्वेदी

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067
1982

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

न्यू मेहरौली रोड
दिनांक: 2-1-1983 ई०

यह प्रमाणित किया जाता है कि श्री जगदीश्वर प्रसाद चतुर्वेदी द्वारा 'आपात्कालीन हिन्दी कविता और नागार्जुन' नामक विषय पर लिखित शोध-प्रबंध मौलिक है। इस शोध प्रबंध में जिन तथ्यों एवं सामग्रियों का उपयोग किया गया है उनका अन्यत्र अनुसंधान हेतु उपयोग नहीं किया गया है।

(श्रीमती (डा०) सावित्री चन्द्र 'शोभा')
अध्यक्षा
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

(डा० केदारनाथ सिंह)
निदेशक

विषय सूची

			पृष्ठ संख्या
प्राक्कथन			(क) - (ख)
प्रथम अध्याय	:	आपात्कालीन पूर्व की आर्थिक राजनीतिक स्थिति	1 - 14
द्वितीय अध्याय	:	पूर्व आपात्कालीन कविता का परिदृश्य	15 - 36
तृतीय अध्याय	:	आपात्कालीन हिन्दी कविता	37 - 53
चतुर्थ अध्याय	:	नागार्जुन की काव्य रचना यात्रा	54 - 74
उपसंहार	:		75 - 77
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची	:		(I)-(II)

प्राक्कथन

आजाद हिन्दुस्तान के इतिहास में ऐतिहासिक एवं महत्वपूर्ण घटना के तौर पर 'आपात्काल' जाना जाता है । क्या 'आपात्काल' अचानक आया ? क्या आपात्काल को टाला जा सकता था ? क्या आपात्काल हिन्दुस्तान की जनता के दुख-दर्दों से मुक्ति हेतु लाया गया ? साथ ही साहित्य के क्षेत्र में विशेष रूप से कविता के क्षेत्र में 'आपात्कालीन' घटना क्रमों ने किस रूप में अभिव्यक्ति पायी ? रचनाकारों ने इस पूरे दौर में किस तरह की भूमिकाओं का निर्वाह किया ? क्या सभी रचनाकार आपात्काल के पक्ष में समर्थन कर रहे थे ? क्या पूरे के पूरे अधिनायक तंत्र की स्थापना सिर्फ 26 जून 1975 को ही होती है ? या अधिनायक तंत्र की ओर क्रमश: शासक वर्ग के कदम बढ़ते हैं ? कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दुस्तान में 'आपात्काल' की स्थापना के पीछे कौन-कौन सी शक्तियां कार्यरत थीं ? कौन-सी वस्तुगत परिस्थितियां थीं ? जिनके कारण 'आपात्काल' आया ।

इन प्रश्नों का समाधान तलाशना साथ ही इस दौर के राजनीतिक घटना विकास को कविता के झरोखे से रेखांकित करना प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का उद्देश्य है । चूंकि बाबा नागार्जुन में सारे हिन्दुस्तानी समाज की चित्त-वृत्तियों, आकांक्षाओं, एवं संघर्षों की तीखी अभिव्यक्ति दिखाई देती है । अत: नागार्जुन को विशिष्ट कवि के रूप में केन्द्र में रखकर आजादी के बाद के हिन्दुस्तान की राज-सत्ता के राजनीतिक कार्यों, उनके परिणामों की तहकीकात के लिए कविता के माध्यम से जाना उचित समझा गया ।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध के निर्माण एवं मार्ग निर्देशन की प्रक्रिया को आशीष एवं स्नेह भाव बनाए रखकर डा० केदारनाथ सिंह जी ने सम्पन्न कराया है । अत: मैं इनके प्रति कृतज्ञ हूं । साथ ही श्री यतीन्द्र नाथ चतुर्वेदी, श्री वी० के० चतुर्वेदी, श्रीमती सरला बिड़ला एवं श्री वी० सी० वियानी जी का भी कृतज्ञ हूं । इन लोगों ने जो अमूल्य मदद एवं उत्साहजनित भाव की विचार भूमि बनाने में महत्व की भूमिका का निर्वाह किया है वह अविस्मरणीय है ।

शोध-प्रबन्ध में छोटी पत्रिकाओं के इकठ्ठा कराने एवं समय-समय पर अपनी बहुमूल्य राय देकर मेरे शोध कार्य को आसान बनाने में सर्व श्री जबरीमल पारख, एवं मनमोहन ने जो सहयोग दिया उसके प्रति मैं इनका आभारी हूं ।

अन्त में सुंदर एवं बेहतरीन साथी श्री बरमेश्वर को स्मरण करना जरूर चाहूंगा जिनकी मदद से यह शोध-प्रबन्ध टाईप हो सका । इनका मैं बहुत-बहुत आभारी हूं ।

दिनांक: 2-1-1983 ई०

जगदीश्वर प्रसाद चतुर्वेदी

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

प्रथम अध्याय

आपात्काल पूर्व की आर्थिक-राजनीतिक स्थिति

सन् 1967 से आपात्काल तक की आर्थिक-राजनीतिक स्थिति

सन् 1967 का समय भारत की राजनीति और अर्थ व्यवस्था के क्षेत्र में अस्थिरता की शुरुआत का समय है। आजादी के बाद कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व ने पूंजीवादी ढंग से देश का विकास करने का रास्ता स्वीकार किया, जिसकी वजह से सन् 67 तक आते-आते देश गहरे आर्थिक संकट व राजनीतिक अस्थिरता के चंगुल में फंस गया, परिणामस्वरूप मानवीय जीवन मूल्यों का ह्रास हुआ। पतनशील संस्कृति का प्रचार प्रसार हुआ, बेकारी, भुखमरी, अशिक्षा, मुद्रास्फीति, महंगाई के क्षेत्र में देश तरक्की करता चला गया। पूरे देश के पैमाने पर असुरक्षा का वातावरण छा गया। पूंजीवादी विकास का रास्ता ग्रहण करने का सबसे ज्यादा फायदा पूंजीपतिवर्ग तथा सामन्तीय तत्वों को मिला। इस दौर का विश्लेषण करते हुए श्री हरकिशन सिंह सुरजीत ने कहा था कि " आजादी का फायदा इजारेदार पूंजीपतिवर्ग तथा सामन्तीय वर्ग ने उठाया, इजारेदारों की पूंजी दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ी। योजनाओं को प्रकारान्तर से उनका हित साधक बनाया गया। इनकी मुनाफाखोरीपर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा, ग्रामीण क्षेत्रों में सामन्तीय शिकंजा और मजबूत हुआ, भूमि संकेन्द्रण घटने की जगह बढ़ा।"[1]

भारत सरकार ने आजादी के बाद अतिरिक्त भूमि का पता लगाने के लिए महालनोविस कमीशन का गठन किया था, जिसने अपनी रिपोर्ट में 20 एकड़ की हदबन्दी के आधार पर जमींदारों के पास 6 करोड़ 30 लाख एकड़ फालतू जमीन होने का अनुमान लगाया था। कमीशन के मुताबिक गांव में जमींदारों की इजारेदारी बढ़ने की वजह से चालीस प्रतिशत जमीन पर 5 प्रतिशत से कम व्यक्तियों का अधिकार है, जमीन के सीमित हाथों में केन्द्रित होते जाने की प्रक्रिया के तेज हो जाने के साथ ही साथ खेतिहर मज़दूरों की संख्या में भी

तेजी से वृद्धि हुई । सन् 1961-71 के बीच भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों की संख्या में 8 प्रतिशत वृद्धि हुई और प० बंगाल में इनकी तादाद 15.3 प्रतिशत से बढ़कर 25.75 प्रतिशत हो गयी जबकि किसानों का प्रतिशत 38.5 प्रतिशत से घटकर 31.75 प्रतिशत रह गया । इस बढ़ती हुई खेतिहर मज़दूरों की संख्या ने उनकी मज़दूरी को भी काफी कम कर दिया । भूमि के अभाव, साल के अधिकांश दिनों की बेरोजगारी और बहुत कम मज़दूरी के कारण ग्रामीण जनता कर्ज और गरीबी के बोझ से दबती जा रही थी जिसका नतीजा यह हुआ कि बंधुआ मज़दूरों की संख्या भी तेजी से बढ़ने लगी । पूंजीवादी ढंग के सामाजिक विकास ने विज्ञान और टेक्नोलोजी के क्षेत्र में भी नये-नये उपकरणों का आविष्कार किया । इन आविष्कारों ने कृषि के क्षेत्र में मशीनीकरण की प्रक्रिया को शुरू करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । शासक वर्ग ने अपने हितों के लिए कृषि के क्षेत्र में मशीनीकरण करके ज्यादा से ज्यादा मुनाफा ही नहीं कमाया अपितु उसे तेजी से भूमि का भी फायदा हुआ । हिन्दुस्तान में कृषि के क्षेत्र में ट्रैक्टरों का उपयोग इसी तथ्य को मजबूत बनाता है । सन् 1966 में 5400 ट्रैक्टर किसानों के पास थे, जो बढ़कर सन् 71 में 143000 हो गये । सन् 1972 में इनकी संख्या बढ़कर 173000 हो गयी । खेती में मशीनों के प्रयोग का यह विस्तार इस बात का सबूत है कि जमीन छोटे आदमी के हाथ से खिसककर बड़े आदमी पर जा रही थी, जो बड़े-बड़े फार्म बनाकर पूंजीवादी फार्मर के रूप में मशीन और मज़दूरों की मदद से लम्बे-चौड़े मुनाफे कमा रहा था । लेकिन किसान की पैदावार की घटती हुई कीमतों ने छोटे किसानों की हालत को और सस्ता बना दिया । जिससे भूमि की हजारेदारी का सिलसिला और तेज़ हो गया । गांवों में व्याप्त गरीबी ने जहां एक ओर किसानों को भुखमरी के कगार पर ला खड़ा किया, वहीं दूसरी ओर औद्योगिक वस्तुओं की मांग को घटाकर , देश में आर्थिक संकट को और भी गहरा बना दिया ।

उद्योग के क्षेत्र में औद्योगिक उत्पादन में जहां मजदूर वर्ग का वेतन के रूप में हिस्सा कम हुआ, दूसरी ओर पूंजीपति वर्ग का मुनाफा बढ़ता गया । औद्योगिक

उत्पादन में सन् 1950-51 में मजदूरों का हिस्सा 62.1 प्रतिशत था । 1963-64 में 53.5 प्रतिशत रहा, और 1970-71 में यह हिस्सा घटकर 52.1 प्रतिशत रह गया ।[3] जबकि पूंजीपति वर्ग के मुनाफों में सन् 1973-74 में 23.7 प्रतिशत और सन् 74-75 में 36.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई । तथा 100 व्यक्तिगत कम्पनियों ने सन् 1973-74 में ही 434.6 करोड़ का घोषित मुनाफा कमाया ।[4] जहां एक ओर पूंजीपति वर्ग का मुनाफा तेजी से बढ़ रहा था वहीं पर दूसरी ओर श्रमिकों ने लगातार अपनी उत्पादन क्षमता बढ़ाकर ज्यादा से ज्यादा उत्पादन किया, जबकि उसके वेतन में लगातार कमी होती जा रही थी । सन् 1961 में मज़दूर वर्ग ने 3239 करोड़ का मूल्य पैदा किया था जो कि 86 प्रतिशत से बढ़कर 1969 में 6028 करोड़ हो गया । इसी बीच उत्पादन 72.5 प्रतिशत बढ़ा तथा कीमतें 71 प्रतिशत बढ़ीं, किन्तु मजदूरों का वेतन सिर्फ 41 प्रतिशत बढ़ा । सन् 60 से 1969 तक के बीच मज़दूरों की संख्या में केवल 41 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि उत्पादन 300 प्रतिशत बढ़ा था, लेकिन कुल वेतन 100 प्रतिशत ही बढ़ा ।

'इकोनोमिक 'टाइम्स '(12 अप्रैल 76) की रिपोर्ट के अनुसार व्यक्तिगत क्षेत्र की 101 औद्योगिक इकाइयों की सम्पत्ति सन् 72-73 में 7.7 प्रतिशत बढ़ी । इस तरह उत्पादन और मुनाफे तो बढ़ रहे थे किन्तु उसी अनुपात में मज़दूरों की संख्या और उनका वेतन नहीं बढ़ा । सन् 1966 में व्यक्तिगत क्षेत्र में 68 लाख 50 हजार मज़दूर काम करते थे, और 1975 में उत्पादन बढ़ने पर इनकी संख्या घटकर 68 लाख रह गयी । इस तरह देश की औद्योगिक स्थिति का अध्ययन करने पर जो तथ्य सामने आते हैं, वे उत्पादन में मजदूर वर्ग के हिस्से की कमी और पूंजीपति के बढ़ते हुए मुनाफे तक ही सीमित नहीं हैं । ये इनके कुछ हाथों में केन्द्रित होने से पैदा होने वाली इजारेदारी के बढ़ते हुए खतरे की ओर भी संकेत करते हैं ।

जब हिन्दुस्तान आजाद हुआ था तो देश की जनता ने यह उम्मीद की थी कि अब हम साम्राज्यवादी लूट-खसोट से मुक्त होकर आर्थिक विकास कर सकेंगे,

लेकिन आदमखोर साम्राज्यवाद ने अपनी शक्ल बदलकर पूंजी और व्यापार के रूप में हमारे बीच में अपनी जड़ें और गहरी करनी शुरू कर दीं। जिसके कारण जनता के हकों पर हमले तेज होते गए। भारत सरकार ने देश की खुशहाली और तरक्की के नाम पर 'विश्व बैंक' भारत सहायता क्लब' तथा असंख्य बहुराष्ट्रीय निगमों को व्यापार करने तथा पूंजी लगाने की पूरी छूट देकर साम्राज्यवादी शोषण को बरकरार रखने में ही मदद पहुंचाने का कार्य किया।

देश में व्याप्त सामंती शोषण, पूंजीपतियों की मुनाफाखोरी तथा विदेशी पूंजी की वजह से पैदा हुई लूट-खसोट ने देश की आर्थिक स्थिति को तहस-नहस करके रख दिया। देश की आजादी के बाद यह उम्मीद की गयी थी कि देश आर्थिक तौर पर आत्म निर्भरता प्राप्त करेगा, यह उम्मीद भी पूरी नहीं हो पायी। साथ ही साथ सार्वजनिक क्षेत्र, जमींदारी उन्मूलन कानून, समाजवादी नमूने के समाज, एकाधिकार विरोधी कानून, पंचवर्षीय योजनाएं, श्रम कानून आदि के द्वारा जो संभावनाएं पैदा की थीं, वो भी धरी - की -धरी रह गयीं।

राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति के बीच की आय के बीच में भी बहुत बड़ी खाई बन गयी। क्योंकि जमींदार और इजारेदार राष्ट्रीय आय के बहुत बड़े हिस्से को स्वयं निगले जा रहे थे। देशी-विदेशी लूट का प्रभाव हमारे सामने बढ़ती हुई कीमतों, बेरोजगारी, अशिक्षा, असुरक्षा तथा मानवीय जीवन मूल्यों के बढ़ते हुए ह्रास के रूप में सामने आया। वहीं पर यह प्रश्न उठता है कि क्या देश को इन हालातों से बचाया जा सकता था? दरअसल में इन परिस्थितियों से देश उबर सकता था? श्री हरिकिशन सिंह सुरजीत ने इसे विश्लेषित करते हुए कहा था कि 'आजादी प्राप्ति के बाद भारतीय क्रांति की दूसरी मंजिल के कार्य भारों को पूरा करना आवश्यक था। जरूरी यह था कि सामन्तीय भूस्वामित्व को पूरी तरह खत्म कर दिया जाय, तथा फालतू भूमि को खेत मजदूरों, गरीब किसानों के बीच मुफ्त बांटा जाय, यह भी जरूरी था कि विदेशी पूंजी को जब्त किया जाय तथा उसका राष्ट्रीयकरण किया जाय और अपनी राष्ट्रीय अर्थनीति पर

विदेशी प्रभावों, उनके शिकंजों को खत्म कर दिया जाय, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन और एक सम्पूर्ण कृषि क्रांति हमारे कृषि उत्पादन को आगे बढ़ाती । हमारी जनता को भोजन मुहैय्या करती तथा हमारे उद्योगों को कच्चा माल प्रदान करती, हमारे बाजार का विकास करती, तथा हमारे उद्योगों के पूंजी निर्माण के लिए कृषि उत्पादन को विकसित कर देती, यह जनवादी क्रांति इस तरह सच्ची आर्थिक स्वतंत्रता को टिकाऊ बना सकती थी, किन्तु इस जनवादी क्रांति के बुनियादी लक्ष्यों को पूरा करने से उत्पन्न होने वाले सम्भावित क्रांतिकारी परिणामों से भय खाकर बड़े पूंजीपति वर्ग ने एक ओर देश के अंदर सामंतीय ताकतों से समझौता कर लिया तथा बाहरी स्तर पर विदेशी साम्राज्यवादी पूंजी से सहयोग जारी रखा ।[5] यानी कि आजादी के बाद सरकार को तीन कार्य करने थे : 1. फालतू भूमि का वितरण, 2. इजारेदारियों का राष्ट्रीयकरण तथा 3. विदेशी कर्जों की समाप्ति । अगर ये तीन कार्य पूरे कर दिये जाते तो जनवादी क्रांति के अगले चरण में देश प्रवेश कर चुका होता ।

उपरोक्त आर्थिक मूल्यांकन से यह तथ्य साफ तौर पर उभरकर सामने आता है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का संकट इस दौर में दिन-ब-दिन गहराता जा रहा था । जिसकी वजह से जनता पर बेशुमार अप्रत्यक्ष टैक्स लगाये जा रहे थे तथा सरकार फूठे नोट छापकर अपने लिए आवश्यक पूंजी जुटा रही थी, बेतहाशा मुद्रास्फीति और मूल्य वृद्धि ने जनता को अपने श्रम से अर्जित की गयी मुद्रा से भी वंचित कर दिया था । इस गहराते हुए आर्थिक संकट ने राजनीति को भी प्रभावित किया और भारतीय राजनीति पर भी संकट के बादल मंडराने लगे । सन् 1965-66 तक आते-आते जनता के बीच असन्तोष तेजी से बढ़ने लगा, जिसकी चरम परिणति सन् 1967 के राज्य विधान सभा चुनावों में हुई, तथा शासक कांग्रेस पार्टी को केरल, तमिलनाडु, उड़ीसा , पंजाब, बिहार, उत्तर प्रदेश, प० बंगाल तथा राजस्थान में बुरी तरह हार का सामना करना पड़ा । हरियाणा और मध्य प्रदेश में कांग्रेस पार्टी को बहुत कम सीटों से बहुमत प्राप्त हो सका । अगर इन चुनावों के परिणामों के

साथ दिल्ली, पांडिचेरी, मणिपुर को भी शामिल कर लें तो पायेंगे कि देश की कुल आबादी के 67 प्रतिशत से अधिक जनमत ने कांग्रेस की नीतियों के प्रति अपना असंतोष विरोध में मत देकर व्यक्त किया था ।

केरल और प० बंगाल को छोड़कर अन्य राज्यों में कांग्रेस विरोधी मोर्चे आपसी गुटबाजी और वैमनस्य के शिकार होकर रह गये और अपने अन्दरुनी फगड़ों की वजह से ही पदच्युत हो गए । केरल और प० बंगाल में कांग्रेस ने राज्यपाल के जरिये राज्य सरकारों को बर्खास्त करवादिया । ई०एम०एस० नम्बूदिरीपाद ने इस दौर का मूल्यांकन करते हुए सही लिखा था कि ---

"जिन राज्य सरकारों में वामपंथी मोर्चे के अलावा अन्य कांग्रेस विरोधी मोर्चा सरकारें बनी, उनमें भी आपसी संघर्ष कम न थे, मगर उनके संघर्षों का किसी विचारधारा या नीति से कोई लेना देना नहीं था । .... [6] .... ये संयुक्त मोर्चे तो भीतर के आपसी फगड़ों के वजन से ही टूट गये ।

ज्यों-ज्यों पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था का संकट गहरा होता जा रहा था, त्यों-त्यों शासक वर्ग की पार्टियों में भी गहरी फूट रूप ले रही थी । जिसकी वजह से राजनैतिक क्षितिज पर अस्थिरता का दौर शुरू हो गया था । इसी राजनीतिक अस्थिरता के चलते सन् 1969 में पुन: हरियाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेश, प० बंगाल तथा बिहार में मध्यावधि चुनाव हुए, जिनमें पुन: कांग्रेस को करारी शिकस्त का सामना करना पड़ा । साथ ही साथ शासक वर्गों की ही विपक्षी पार्टियों के मोर्चे की भी प्रतिष्ठा व वोटों की तादाद में कमी आई । इसके विपरीत सी०पी० आई०(एम०) के नेतृत्व में बने वामपंथी मोर्चे की प० बंगाल में जबर्दस्त जीत हुई ।

सन् 1969 तक आते-आते कांग्रेस-पार्टी के अंदर "वाम-पंथ" और "दक्षिण-पंथ" की प्रवृत्तियों के बीच टकराव की स्थिति आ गयी । राष्ट्रपति पद के लिए प्रत्याशी के चयन हेतु कांग्रेस संसदीय बोर्ड की मीटिंग में मोरारजी ग्रुप ने श्री नीलम संजीव रेड्डी का नाम प्रस्तावित किया तथा तत्कालीन प्रधानमंत्री

श्रीमती इन्दिरा गांधी ने श्री वी० वी० गिरि का नामप्रस्तावित किया था । बोर्ड ने साधारण बहुमत से श्री संजीव रेड्डी का नाम पास करके उन्हें प्रत्याशी घोषित कर दिया जबकि विपक्ष पहिले ही श्री वी० वी० गिरि को प्रत्याशी घोषित कर चुका था । इस चुनाव के मौके पर श्रीमती इन्दिरा गांधी ने "आत्मा" की आवाज के आधार पर कांग्रेसजनों से श्री वी० वी० गिरि को वोट देने की अपील की । संगठन के स्तर पर कांग्रेस पार्टी दो भागों में बंट गयी ।

"विभाजन का अन्य अनेक मुद्दों के साथ असल मुद्दा यह रहा कि क्या उभरते जन-असंतोष एवं जनवादी आंदोलन को, मजदूरवर्ग के संघर्षों को सीधे रास्ते से कुचला जा सकता है या क्या जनवाद को संसदीय तरीकों से , कुछ लोकप्रिय फैसले एवं लोकप्रिय प्रतीत होने वाले नारों से पछाड़ा जा सकता है ? इस दौर में मोरारजी और उनके दोस्त पहली नीति के समर्थक रहे तथा दूसरी ओर इंदिरा गांधी एण्ड कम्पनी दूसरी नीति की समर्थक रहीं । (हालांकि बहुत ही जल्द दोनों घटकों ने अपनी भूमिकायें बदलनी शुरू कर दी थीं ।)[7]

इसी बीच इन्दिरा कांग्रेस ने कुछ प्रगतिशील से दिखने वाले कदम भी उठाये । जिनकी वजह से विभाजन अनिवार्य हो गया था । चौदह बैंकों का राष्ट्रीयकरण तथा राजाओं के प्रीविपर्सों की समाप्ति ऐसे ही कदम थे । जो दिखने में तो [illegible] प्रगतिशील थे लेकिन बुनियादी तौर पर शासक वर्ग का इससे कोई चरित्र नहीं बदलने जा रहा था।

सन् 71 तक आते-आते लोकसभा के मध्यावधि चुनावों के समय शासक वर्ग की पार्टियों में आपस की इस लड़ाई का चरित्र पूरी तरह साफ हो चुका था । श्री ई० एम० एस० नम्बूदिरीपाद ने इसे विश्लेषित करते हुए लिखा है कि "सन् 1972 के हफ्तों में जो चुनावी लड़ाई लड़ी गई " अगर इस पर अब गौर करें तो यह बात साफ हो जायेगी कि एक तरफ सत्ताधारी की हजारेदार विरोधी मुहिम और दूसरी ओर बड़े हजारेदार घरानों तथा सिंडीकेट कांग्रेस की वामपंथ विरोधी

लड़ाई सिर्फ दिखावटी थी । इस चुनावी लड़ाई के बीच उद्देश्यपूर्ण और स्वार्थपूर्ण सौदेबाजी के समझौते हो रहे थे । इजारेदारों को और भी ज्यादा रियायतें देने की सौदेबाजी हो रही थी और बदले में सत्ताधारी कांग्रेस को भारी मरकम सहायता की और बड़ी रकमें मिलने के वायदे किये जा रहे थे.....

..... वाम-पंथ ' 'दक्षिण पंथ ' की लड़ाई और उस लड़ाई में वामपंथ की जीत का नतीजा यह हुआ था कि पूंजीवाद और खासकर इजारेदार पूंजी की स्थिति ज्यादा मजबूत हो गयी ।'[8]

इस वामपंथ ' और 'दक्षिणपंथ ' की लड़ाई का कांग्रेस को खूब फायदा हुआ और चुनाव में उसे भारी जीत हासिल हुई । 'महागठजोड़ को शर्मनाक हार का सामना करना पड़ा । इस चुनाव में संसद में सबसे बड़े विपक्षी दल के रूप में सी०पी०आई०)स्म०) उभर कर सामने आई थी।

सन् 72 में प० बंगाल विधान सभा के चुनावों में बड़े पैमाने पर बेईमानी की गई और पूरे राज्य में अघोषित फासी राज आतंक के दौर की इसके साथ ही शुरूआत हुई । यह वह बिन्दु है जहां से श्रीमती इन्दिरा गांधी की कांग्रेस नग्न रूप में तानाशाही हथकण्डों का इस्तेमाल करना शुरू कर देती है ।

इसी बीच बंगला देश की आजादी का संघर्ष तथा पाकिस्तान से भारत का युद्ध होता है, जिसके कारण आर्थिक संकट का बोझा भारत की जनता पर और बढ़ जाता है जिसके प्रति धीरे-धीरे असंतोष फैलने लगता है । इधर शासक वर्ग का सन् 73 तक आते-आते तानाशाही की ओर दूसरा कदम यह था कि सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस के पद पर सारे कायदे कानूनों का उल्लंघन करके जूनियर जज श्री स० स्म० राय की नियुक्ति की गयी, ऐसा करके न्याय पालिका को कार्य-पालिका के मातहत करने की दिशा में प्रयास तेज कर दिये गये ।

इसी बीच 'ऐतिहासिक रेल हड़ताल ' हुई जिसमें मजदूरों का बहशी तरीके से दमन किया गया । हजारों मजदूरों को नौकरी से निकाल दिया गया, और

अंत में मज़दूरों को संघर्ष वापस लेने को मज़बूर किया गया । यह वो समय था जब देश की आर्थिक स्थिति तेजी से बिगड़ती चली जा रही थी तथा बेकाबू हो गयी थी जिसकी वजह से गुजरात और बिहार में छात्रों की मांगों से शुरू हुए आंदोलनों ने व्यापक जनसंघर्षों का रूप ग्रहण कर लिया । बिहार आंदोलन में जे० पी० ने जनता के व्यापकतम तबकों में इस आन्दोलन को फैलाकर व्यापक जनान्दोलन में तब्दील करने में सफलता प्राप्त कर ली । ई० स्म० स्स० के शब्दों में :---

"जे० पी० आन्दोलन की अहमियत तो इस तथ्य में देखी जा सकती है कि इस आन्दोलन ने बढ़ती तानाशाही के खिलाफ संघर्ष में अपने झंडे के नीचे पहले के आंदोलनों के मुकाबले कहीं बड़ी यानी कि करोड़ों की संख्या में लोगों को लामबंद किया ।"[9] गुजरात के जनान्दोलन के दबाव में आकर केन्द्र सरकार को विधान सभा भंग करनी पड़ी । इधर बिहार का आन्दोलन देश के दूसरे भागों में भी फैलने लगा ।

श्रीमती इन्दिरा गांधी की कांग्रेस पार्टी की नीतियों के खिलाफ चल रहे इन जनान्दोलनों में गुणात्मक रूप में गतिशीलता पैदा की । 12 जून, 75 के इलाहाबाद हाई कोर्ट के फैसले ने । इस फैसले के तहत तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी का चुनाव अवैध करार दे दिया गया । इस सन्दर्भ में इन्दिरा गांधी को सरकारी संसाधनों के दुरूपयोग करने तथा तादाद से ज्यादा चुनाव-खर्च करने के लिए दोषी पाया गया था । उधर 12 जून 75 की रात को ही गुजरात विधानसभा के चुनाव परिणाम आ चुके थे । इन चुनावों में इन्दिरा गांधी की पार्टी की करारी हार होती है तथा विपक्षी दलों का संयुक्त जनता मोर्चा जीतता है । इसके कारण जनान्दोलनों को गहरा राजनैतिक बल मिला था ।

"मगर विपक्ष ने सत्ताधारी पार्टी के खिलाफ इलाहाबाद के फैसले का इस्तेमाल एक बड़े राजनैतिक अस्त्र के रूप में किया । मांग की गयी कि प्रधानमंत्री

को अपनी गद्दी छोड़ देनी चाहिए और अगर सुप्रीम कोर्ट उसके पक्ष में फैसला करे, तभी वे अपना पद फिर से संभालें। इस मांग को भारी समर्थन मिला। सत्ताधारी पार्टी के भीतर भी इसकी गूंज हुई।[10] लेकिन प्रधानमंत्री इसके लिए तैयार नहीं थी, अत: जनवादी आन्दोलनों को कुचलने के लिए प्रधानमंत्री कमर कसकर उतर आईं।

उन्होंने भारत के संविधान में जनता को प्रदत्त अधिकारों का उपयोग, स्वतंत्रता छीनने के लिए किया जिसके कारण अन्य भी रहे हैं। यहां यह ध्यान रहे कि बाहरी खतरे के खिलाफ पाकिस्तान-युद्ध के समय से ही 'आपात्काल' लागू था, जिसके तहत शासन को असीम अधिकार प्राप्त थे, फिर 25 जून 75 की रात को देश भर 'आंतरिक आपात्काल' लागू कर दिया गया। इस तरह देश पूर्णत: 'आपात्काल' रूपी संवैधानिक नियमों के तहत कैद खाने में तब्दील कर दिया गया। सन् 72 में प० बंगाल में जो अर्द्धफासी आतंक की शुरुआत हुई थी, अब उसने पूरे देश को अपनी गिरफ्त में ले लिया था।

दरअसल, फासिज्म जब सत्तारूढ़ होता है, तो वह जनता के सारे अधिकारों को छीन लेता है, तथा जनता की सारी मान्यताएं ताक पर रख दी जाती हैं, अगर सत्ताधारी दल का जनाधार कमजोर होता है तो फासिज्म संसद, संविधान आदि को बने रहने देता है। नाम मात्र के विपक्षी दल के लोग भी बाहर छोड़ देता है, जिससे जनता को भ्रमित रखा जा सके। फासिज्म की इस नीति का विश्लेषण करते हुए ज्यार्जी दिमित्रोव ने लिखा था कि 'कुछ देशों में, खासतौर से उन देशों में जहां फासिज्म को जनता में व्यापक आधार नहीं प्राप्त है, और जहां फासिस्ट पूंजीपति वर्ग के खेमे में विभिन्न गुटों में काफी तेज संघर्ष चल रहा होता है, वहां फासिज्म फौरन ही संसद को खतम करने का साहस नहीं करता है। बल्कि अन्य पूंजीवादी पार्टियों और सामाजिक जनवादी पार्टियों को किसी अंश तक कानूनियत बनाये रहने देता है। अन्य देशों में जहां शासक पूंजीपति वर्ग को क्रांति के शीघ्र शुरू हो जाने का भय रहता है, वहां

फासिज्म या तो तत्काल ही या फिर सभी प्रतियोगी पार्टियों और दलों के विरुद्ध आतंक का राज तेज करके और उनका दमन करके अपना निर्बन्ध राजनीतिक स्वाधिकार स्थापित करता है । इससे फासिज्म के लिए इस बात में बाधा नहीं पड़ती है कि जब उसकी हालत खासतौर से संगीन हो जाये तो वह अपने आधार को विस्तृत करने का प्रयास करे और अपने वर्ग चरित्र को बदले बगैर खुली आतंकवादी तानाशाही को संसदीय जनतंत्र के भौंडे ढकोसले के साथ - साथ मिलाकर चलाये ।"[11]

हिन्दुस्तान में बिल्कुल यही हुआ, विपक्षी दलों के नेताओं तथा लोकतंत्र में आस्थावान हजारों लोगों को जेलों में अकारण बंद कर दिया गया । उन्हें तरह-तरह की यंत्रणाएं दी गयीं । पूंजीवादी लोकतंत्र और संविधान में प्रदत्त सभी गर्व के साथ घोषित अधिकारों को खत्म कर दिया गया । समाचार पत्रों, सभाओं, संगठनों - हड़तालों आदि की स्वतंत्रताएं खत्म कर दी गईं । न्यायपालिका को कार्यपालिका का पूरी तरह गुलाम बना दिया गया । संविधान के बुनियादी उद्देश्यों को दफना दिया गया और शासक दल की अधिकारवादी योजनाओं के अनुरूप उसमें फेरबदल कर दी गयी थी । यह स्पष्ट रूप से खुली आतंक शाही की स्थापना थी । ऐसी स्थिति के सन्दर्भ में श्री ज्याजी दिमित्रोव का विश्लेषण सही है कि "फासीवाद का सत्तारोहण साधारणत: एक बुर्जुआ सरकार की जगह दूसरी बुर्जुआ सरकार का आना नहीं है , अपितु बुर्जुआ के वर्गीय आधिपत्य के राज्य के एक रूप का स्थान दूसरे रूप द्वारा बुर्जुआ जनतंत्र का स्थान खुली तानाशाही द्वारा लेना होता है ।"[12]

फासीवाद का लक्ष्य जनगण का निरंकुश शोषण है, लेकिन वह पूंजीवादी लुटेरे के खिलाफ श्रमजीवियों की गहरी नफरत से फायदा उठाने के लिए पूंजीवाद विरोधी लफ्फाजी का सहारा लेता है । और बड़े आकर्षक नारे देता है । इसी तरह की लफ्फाजी का प्रयोग तत्कालीन शासक वर्ग के दल ने किया और 20 सूत्री आर्थिक कार्यक्रम की घोषणा करते हुए यह बताया गया कि यह प्रोग्राम

गरीबों के हित में, अमीरों के खिलाफ एक अस्त्र का कार्य करेगा । 20 सूत्री आर्थिक कार्यक्रम के प्रकाश में आने से पूर्व 6 मार्च 75 को दिल्ली में आयोजित एक विराट् प्रदर्शन के साथ श्री जय प्रकाश नारायण ने एक 18 सूत्री मांगपत्र दिया था। इसी मांग पत्र के अधिकांश सूत्रों को श्रीमती इन्दिरा गांधी के 20 सूत्री प्रोग्राम में ज्यों का त्यों उतार लिया गया । बीस सूत्रीय कार्यक्रम के 1,2,3,4 5,6,7,9,14,15 और 20 वें सूत्र जे० पी० के मांगपत्र से लिये गए हैं । निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आजादी के बाद अर्थ व्यवस्था के क्षेत्र में पूंजीवादी ढंग से विकास का रास्ता अख्तियार करने की वजह से देश का आर्थिक रूप से विकास असमान गति के साथ-साथ समाज में परेशानियों के अम्बार खड़े करने वाला था, जिसकी वजह से पूंजी का केन्द्रीकरण , सीमित हाथों में बढ़ता गया । जनता का आर्थिक जीवन स्तर उतनी ही तेजी से नीचे गिरता गया , जिसकी वजह से जनता में असंतोष तेजी से बढ़ने लगा । जहां शासक शोषक वर्ग अपने मुनाफे के विस्तार के लिए जनता का शोषण कर रहा था, वहीं दूसरी ओर जनता इस शोषण के विरोध में गोलबंद हो रही थी । इस गोलबंदी को तोड़ने के लिए तानाशाही की जरूरत शासक वर्ग को पड़ी । यह पूरी तरह से फासीवाद राज्य की शुरुवात थी । यहीं पर यह प्रश्न उठता है कि इन्दिरा गांधी का फासीवादी राज्य स्थापना का यह दौर प्रत्यक्ष रूप में शुरू हुआ, उसने जनता को इतना भ्रमित कैसे कर लिया ? दरअसल में, "फासीवाद जनगण को अपनी तरफ आकर्षित करने में इसलिए सफल होता है कि वह लफ्फाजी के साथ उनके बड़े जरूरी सवालों और मांगों को उठाता है । वह सिर्फ जनगण के अंदर गहरी जड़ पकड़े पूर्वाग्रहों को ही नहीं भड़काता, बल्कि उनकी अच्छी भावनाओं से भी फायदा उठाता है । और कभी-कभी तो उनकी क्रांतिकारी परम्परा से भी अपना उल्लू सीधा करता है ।" [13]

" वह जनता को सबसे भ्रष्टाचारी तत्वों के हाथ सौंप देता है,

लेकिन उसके सामने आता है, भ्रष्टाचारहीन और ईमानदार सरकार का पैरोकार बनकर ।[14] इस पूरे दौर में साहित्य के क्षेत्र में क्या-क्या परिवर्तन हुए, इसे अगले अध्यायों में विश्लेषित करने की कोशिश की गई है ।

---00000---

प्रथम अध्याय की पाद टिप्पणियां

1. जनवादी साहित्य के दस वर्ष : श्री हरिकिशन सिंह सुरजीत - पृ0-12
2. सण्डे स्टैण्डर्ड - 21 मार्च 1976
3. इकोनोमिक टाइम्स - (14-15 जुलाई, 1975) : 'रिजर्व बैंक आफ इंडिया के सर्वे के आधार पर ।
4. इकानोमिक टाइम्स (13 जनवरी 1976) 'रिजर्व बैंक आफ इंडिया की रिपोर्ट के आधार पर ।
5. जनवादी साहित्य के दस वर्ष : पृष्ठ- 11
6. समकालीन भारत-सर्वग्रासी संकट - ई0एम0एस0 नम्बूदिरीपाद -पृ0-77
7. जनवादी साहित्य के दस वर्ष : श्री हरिकिशन सिंह सुरजीत : पृ0-13
8. समकालीन भारत-सर्वग्रासी संकट - ई0एम0एस0 नम्बूदिरीपाद - पृ0-88
9. उपरोक्त - पृष्ठ- 105
10. उपरोक्त - पृष्ठ- 107
11. सेलेक्टेड स्पीचेज़ एण्ड आर्टिकिल्स '- ज्यार्जी दिमित्रोव - पृ0-39
12. उपरोक्त - पृष्ठ- 42
13. उपरोक्त - पृष्ठ- 42-43
14. उत्तरार्द्ध - 'फासिज्म विरोधी अंक ' --'फासिज्म क्या है ? ' श्री अयोध्यासिंह ।

द्वितीय अध्याय

पूर्व आपात्कालीन कविता का परिदृश्य

आपात्काल से पूर्व के काव्य-परिदृश्य का विश्लेषण करने के लिए जरूरी होगा कि 'नई कविता' के शुमारंभ से लेकर और आपात्काल लगने तक की कविता का मूल्यांकन किया जाय ।

इस दौर में कई तरह के उतार-चढ़ाव भारतीय जनजीवन में देखे गए । उनका भी गहरा प्रभाव तत्कालीन रचनाशीलता पर देखा जा सकता है । 'नयी कविता' की शुरुआत 1951-52 से मानी जाती है । इसकाव्यांदोलन में विभिन्न मत-मतान्तारों के कवि शामिल थे तथा उनकी भी कोई निश्चित विचारधारा नहीं थी । मोटे तौर पर नयी कविता में अस्तित्ववादी तथा मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित कवि शामिल थे - लेकिन 'नयी कविता' का अपना कोई अलग से विचारधारात्मक रूप सामने नहीं आ पाया था । इसमें शामिल कवियों की भाव दृष्टि का जीवन की संवेदनाओं के साथ कोई भी तालमेल नहीं था । मुक्तिबोध ने इसे विश्लेषित करते हुए लिखा था कि 'नयी कविता' की अपनी विशेष कोई दार्शनिक धारा या विचारधारा नहीं रही । वह तरह-तरह के रुझानों, दृष्टियों, और विचारों का एक ढेर बन गयी । संक्षेप में, नयी कविता के पास अपनी कोई विशिष्ट दार्शनिक धारा या विचारधारा नहीं है । लगभग सभी कवियों में विकसित विश्व दृष्टि का अभाव है, सांगोपांग विचारधारा का अभाव है । अगर किसी में विश्व दृष्टि है भी, तो वह ऐसी स्थिति में है कि वह उसकी भाव दृष्टि का प्रायः अनुशासन नहीं कर सकती ।'[1]

इस दौर की कविता की एक खासियत यह भी थी कि वह राजनीति मात्र का विरोध करती थी । इस विरोध के केन्द्र में वामपंथी राजनीति का विरोध मुख्य हुआ करता था । नयी कवितावादियों ने 'कला की स्वायत्तता' का नारा दिया था । निश्चित रूप से ऐसे रचनाकारों की रचनाशीलता का जनता के जीवन से कोई भी संबंध नहीं था । तथा 'सौन्दर्यानुभूति और वास्तविक जीवनानुभवों की समान्तर गति'[2] वाला कला सिद्धान्त लाया गया ।

इस काव्यांदोलन के पीछे मुख्य रूप से शीत युद्धीय राजनीति का गहरा हाथ था और उन्हीं के द्वारा स्थापित कला - मूल्यों का प्रचार-प्रसार किया गया, इसका मुख्य उद्देश्य प्रगतिशील रचनाशीलता को बाहर खदेड़ फेंकना था । मुक्तिबोध के शब्दों में :---

"सन् 1951-52 के अनन्तर, साहित्य क्षेत्र से, विशेषकर काव्य क्षेत्र से प्रगतिवादी विचारधारा को खदेड़कर बाहर करने के लिए नयी कविता के बुर्ज से शीतयुद्ध की गोलन्दाजी की गयी थी । यह शीत युद्ध मेरे लेखे, विश्व में चल रहे राजनैतिक शीत युद्ध की साहित्यिक शाखा के रूप में था ।"[3]

नयी कविता में शामिल कवियों का स्वायत्त मध्य वर्गीय संसार था जो "अनुभव की अद्वितीयता" के नाम पर गलत अनुभवों का काल्पनिक जाल बुन रहा था । कला और साहित्य की स्वायत्तता का नारा देकर ये कवि समाज की विविध जटिलताओं और व्यवस्था के बुनियादी अन्तर्विरोधों से जनता का ध्यान हटाकर उसे असामान्य अनुभवों के अलौकिक संसार में भटकाने की कोशिश कर रहे थे ताकि वह सामाजिक संघर्ष के जीवित संदर्भ से बिल्कुल कट जाये । इस प्रकार ये कविगण व्यक्ति और समाज, उसके अन्तर्जगत और बाह्य परिवेश को एक दूसरे के खिलाफ खड़ा करने की कोशिश कर रहे थे । तथा उसे इस तरह चित्रित कर रहे थे कि उनके बीच कोई अलंघ्य विभाजन रेखा है, अन्तर्जगत को बाह्य जगत् के प्रभाव से बचाना तथा व्यक्ति की समाज से रक्षा नये कवियों के लिए नैतिक कर्तव्य जैसी आवश्यकता थी । अपने बुनियादी चरित्र में इस रचना-जगत से जुड़े हुए कवि व उनका रचना संसार एक ओर पूंजीवाद की गिरफ्त में राजसत्ता की बिना शंका-संदेह के स्वीकृति, दूसरी ओर साम्यवाद और संगठित चेतना के विरोध तथा तीसरी ओर अन्तर्मुखी व्यक्तिवादी दर्शन के त्रिकोण में कैद एक तरह से मध्यवर्गीय जीवन के ही अनुभव थे ।

नयी कविता के दौर में मुक्तिबोध ही एक मात्र ऐसे लेखक थे, जिन्होंने नयी कविता की प्रकृति व चरित्र का विश्लेषण सही रूप में प्रस्तुत किया तथा इस दौर के रचना कर्म के पीछे छिपी राजनीति को पहचाना था, दो वास्तविक वर्गों के बीच के मध्यवर्ग की अवास्तविकता को वे अच्छी तरह पहचानते थे । 'भूतों की बारात में कनात से तनते तथा बिस्तर की तरह बिछते' अथवा शोषक शासक वर्गीय 'रावण के घर पानी भरने वाले' रक्तपायी वर्ग से नाभिनालबद्ध इस मध्यवर्ग की आकांक्षाओं, धूर्तताओं, संभ्रमों और सीमाओं को मुक्तिबोध अच्छी तरह पहचानते थे । इसी लिए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था ---

'कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूं
वर्तमान समाज चल नहीं सकता
पूंजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता
स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को
जन को ।'[4]

नयी कविता में मुक्तिबोध और शमशेर जनवादी धारा के वाहक के रूप में दिखायी देते हैं, कुछ आलोचकों का मानना है कि 53 सन् के बाद की कविता में रोमैण्टिक प्रवृत्तियों का गहरा प्रभाव है तथा इस दौर की काव्य प्रवृत्ति को 'रोमैण्टिशिज्म' नाम दिया है । वस्तुगत रूप से यह विश्लेषण ठीक नहीं है । डा० मैनेजर पाण्डेय ने इस सन्दर्भ में सही विश्लेषित करते हुए लिखा है कि ---

'इस काल की कविता में जो रुमानी प्रवृत्ति है, उसे रोमैण्टिशिज्म कहना उचित नहीं लगता क्योंकि दुनियाभर के रोमैण्टिशिज्म में विद्रोह की जो चेतना रही है वह नई कविता की रुमानियत में नहीं है । अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, जगदीश गुप्त आदि की कविताओं में कहीं भी सार्थक विद्रोह का भाव नहीं है ।

वास्तव में नयी कविता की रुमानियत का संबंध छायावादी रोमैण्टिशिज्म की स्वतंत्रता की चेतना और विद्रोह भावना से नहीं है, उसका संबंध तो तीसरे दशक की भोगवादी मनोवृत्ति और रुग्ण मानसिकता से है ।[5]

नई कविता के अंक 5-6 (1960-61) में नई कविता की वर्तमान स्थिति ' पर एक परिचर्चा आयोजित हुई थी जिसमें दो कवियों तथा दो आलोचकों ने भाग लिया था । इस परिचर्चा में देवराज ने लिखा था कि 'नई कविता की संभावनाएं खतम हो चुकी हैं । ' और शंभुनाथ सिंह का मत था कि ' नई कविता अपने को दोहराने लगी है । ' इन नई कवितावादियों के मूल्यांकन पुनर्मूल्यांकन के प्रयास से एक बात साफ तौर पर उभर कर आती है कि उस समय नई कविता ह्रास की ओर जा रही थी । इसी अंक में संपादक जगदीश गुप्त ने अकविता और नई कविता के बीच के संबंध पर भी विचार किया था ।

सन् 60-61 के बाद हिन्दुस्तान के शासक वर्ग के वादों और सच्चाइयों के बीच का छद्म जनता के सामने आने लगा था । नेहरू की प्रगतिशील तथा जनवादी छवि खंडित होनी शुरू हो चुकी थी । ' समाजवादी नमूने का समाज ' तथा पंचवर्षीय योजनाओं का जितना प्रचार तथा [illegible] किया गया वह बड़ी ही तेजी से जनता की आकांक्षाओं को खंडित कर रहा था तथा बढ़ती हुई बेकारी, भुखमरी, मुद्रास्फीति ने जनता के जीवन में भयंकर असंतोष पैदा कर दिया था । इन सबका प्रभाव साहित्यकार पर भी पड़ा और यही वजह है कि साहित्य में साठोत्तरी पीढ़ी के तमाम रचनाकार विकल्पहीनता की स्थिति के दौर से गुजर रहे थे ।

और ऐसे ही समय में कविता के क्षेत्र में तमाम नवीन नामों के साथ कविता दिखाई देती है । 'नई कविता ' के अंक नं०-8 में (1966-67 ई०) में

जगदीश गुप्त ने 'किसिम-किसिम की कविता' शीर्षक लेख में 45 किसिम की कविताओं का नामोल्लेख किया है । नामकरण के इस दौर में फर्क केवल नाम का ही रह गया था ।

नई कविता और नयी कहानी के साथ साठोत्तरी पीढ़ी के संबंध को स्पष्ट करते हुए डा० नामवर सिंह ने लिखा था कि ' इस प्रवृत्ति की नींव उसी दिन पड़ गई थी जब साहित्य में शीत युद्ध का व्यक्ति स्वातंत्र्यवादी नारा बुलंद किया गया और इतिहास ने प्रमाणित कर दिया कि अंध कम्युनिस्ट विरोध क्रमशः किस प्रकार राजनीति विरोध और विचारधारा विरोध की सीढ़ियां उतरता हुआ कोरे अनुभववाद के सहारे अंततः देह की राजनीति में समाहित हो जाता है ।'[6]

अकवितावादी कवियों की रचनाओं के बारे में श्री अशोक बाजपेयी का मानना है कि ' उनकी संवेदनाएं रुमानी हैं और उनकी मूल कसवाहट भावुकता उनके तथाकथित महानगर बोध के सामने संयमित या तनावपूर्ण न होकर दरअसल और अधिक सतही और लिजलिजी हो गई है । मयावह प्रतीकों और थोड़ा बहुत चौंकाने वाली बिंबमाला का सहारा लेकर तेज-तर्रार कविताएं लिखने की कोशिश इस सच्चाई को दबा नहीं पाती कि उनका भाव बोध अतिरंजना और भावस्फीति पर आधारित है ।'[7]

दरअसल अकविता का पाजिटिव पक्ष यह था कि वह अपने समय के यथार्थ की विरुपता को अमानवीय सामाजिक संबंधों की सीवन को पूरी निर्ममता के साथ सामने रख रही थी, पतनोन्मुख पूंजीवादी संस्कृति की अनेक विरुपताओं को भदेस जीव स्थितियों के बीच रखकर उजागर करने की कोशिश कर रही थी । लेकिन यथार्थ की पूरी और सही समझ देने वाले परिप्रेक्ष्य के अभाव तथा विचारधारात्मक अनिश्चितता के कारण इसके अधिकांश प्रयास प्रभाव की

विपरीत दिशा में चले गए । निषेधवादी अराजक दृष्टि ने इस रचना कर्म को उद्धत अहं की उस बड़ बोली शाब्दिक अराजकता में बदल दिया जो अपने विपक्ष को ठीक से पहचाने बगैर शून्य को ललकारती हुई तेज मुहावरों का तरकश खाली करती रहती है । कवियों की व्यक्तिवादी अहं भावना ने उसे सामूहिक मुक्ति के लिए संघर्ष की किसी संगठित प्रक्रिया से नहीं जुड़ने दिया जिसका प्रत्यक्ष असर रचना में भी दिखाई दिया । इस प्रवृत्ति ने अधिकतर कवियों के भीतर नसीहत और फटकार देनेवाला भाव पैदा किया तथा जनता का मार्ग दर्शक होने का भ्रम भी पैदाकिया । इसी भ्रम की वजह से उसने सामाजिक संघर्ष को दो विरोधी वर्गों की लड़ाई की जगह अपने और समूची व्यवस्था के बीच की लड़ाई के रूप में परिभाषित किया । अकवितावादी कवियों की यह समझ 'हम ' की अपेक्षा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को ऐतिहासिक गति के वस्तुपरक नियमों से अनुशासित न मानकर व्यक्तिगत स्थितियों से जुड़ी प्रकृत अराजकता में सक्रिय देखती है । झुंझारु तेवर की इस दौर की रचनाओं में आमतौर पर संघनाटनात्मक अनिश्चितता हावी रही है, यह अनिश्चितता मूलत: सक्रिय रूप से जीवन से जुड़ी वैज्ञानिक समझ के अभाव की देन थी । समकालीन जीवन और उसकी चुनौतियों के प्रति इस दौर के कवियों की प्रतिक्रियाएं बहुधा इतनी अनिश्चित, अनेकाग्र उथली और अतिरंजित हो गयीं कि उनसे अन्तर्वस्तु की कोई सार्थक वैचारिक बुनावट नहीं उभरती, वैचारिक संघटन का यह अभाव, यथार्थ के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं को ठोस आधार पर व्यवस्थित कर विशिष्ट संवेदना को एक दृष्टिबद्ध अन्विति देकर रचनानुभव की बुनावट को कोई आंतरिक संगति और सार्थकता नहीं दे रहा था,। इसीलिए उनके रचना कर्म में वह आत्म विश्वास बहुत कम झलक पाता है जो अपने समय के यथार्थ को उसकी नींव पर पकड़ सकता है । श्री सुरेन्द्र चौधरी का इस दौर का यह विश्लेषण सही है कि :---

'सन् 60 के बाद की कविता पीढ़ी ने न केवल एक आंतरिक बदल का आभास

दिया, बल्कि अपनी शक्ति और सीमा में इस परिवर्तन को 'इफेक्ट' किया। यह कार्य नई कविता के अधूरे और कृत्रिम 'ब्लिशन' को तोड़कर ही संभव था।[8]

इस दौर की कविता के क्षेत्र में जो प्रयोग किये गए उनमें विडम्बनाओं की अनेक संभावनायें देखी गयीं। जो कि 'बाद में कुछ खरी उतरीं, कुछ सामान्य, और बचकाना साबित हुईं। इसमें आश्चर्य भी नहीं है कि नई कविता के बहुत सारे कवियों को बाद में चलकर अपना ही काव्यात्मक ढांचा बोझिल मालूम पड़ने लगा और उन्होंने युवा कवियों के मुहावरों और लटकों के प्रति समर्पण किया। यह युवा कवियों की विजय चाहे नहीं, मगर नई कविता की काव्य-संवेदना की पराजय जरूर थी।[9]

इस दौर के कवियों के सामने 'देश' का रूप अपनी मूर्तता में 'आततायी' था। फलतः सवाल इस ठोस मूर्त और आततायी परिवेश से केवल भावना के भीतर टकराते रहने का नहीं था। उसे बदल देने का भी था। इन अन्तर्यात्राओं की विफलता की पीड़ा को मूर्त रूप देने के प्रयत्न में लगे हुए कवियों का आत्म संघर्ष श्रीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह तथा विष्णुचंद्र शर्मा में ठीक-ठीक पहचाना जा सकता है। श्री सुरेन्द्र चौधरी ने इस दौर के कवियों का मूल्यांकन करते हुए लिखा था कि 'श्रीकान्त वर्मा, केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय से कुंवर नारायण की कविता आज अलग पड़ने लगी है या प्रयाग नारायण त्रिपाठी इस पूरे प्रवाह से कट गए हैं, तो इसलिए नहीं कि रचनात्मक स्तर पर इनमें कोई आधारभूत अंतर है बल्कि इसलिए कि इतिहास के भीतर ये अपने को अलग - अलग प्रतिष्ठित अनुभव करते हैं। कुंवर नारायण के लिए इतिहास एक रागात्मक अविच्छिन्नता है, जबकि इस अनाहत नैरंतर्य की जड़ता को तोड़कर श्रीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह और रघुवीर सहाय समय की गतियों से जुड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं।[10]

सन् 67 तक आते-आते व्यापक जन-असंतोष का जो रूप राजनीति में

O,152,1;g(V,44;5001) Diss 152M2
TH-1236
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY LIBRARY

'कांग्रेस की पराजय' के रूप में व्यक्त होता है, जिसकी वजह से जड़ता और छद्म आशावादिता पर चोट पड़ती है । इस चोट का असर साहित्य पर भी दिखाई देता है । आजादी के बाद के दौर में आशावाद की जो लहर आई थी, उसके परदे में भाववादी रूपवादी जीवन-दृष्टि ने रचना को जिस प्रकार जन-विमुख कर दिया था और जिस तरह बाद में, शीत युद्धीय नारे 'विचारधारा से विदाई' ने साहित्य को जन जीवन के आलोड़न से काटकर फेंक देने की कोशिश की थी , वह सबका सब छिन्न-भिन्न हो जाता है ।

इसी दौर में, वैचारिक वातावरण में कुछ नये तत्वों का समावेश हो रहा था, उस जमाने की पत्रिकायें देखने पर पता चलता है कि कुछ पत्रिकायें अपने सर्व अस्वीकार के रवैये को छोड़कर, वामपंथी विचारधारा और उसकी शब्दावली में अपने विश्लेषण करने लगी । इस दौरान वियतनाम के मुक्ति संघर्ष ने भी इन कवियों का ध्यान आकृष्ट किया, 'युयुत्सा' और 'सामयिक' के अंकों में लगातार मार्क्सवादी जीवन दर्शन एवं मजदूर किसान वर्ग की क्रांतिकारी भूमिका का बड़े आदर एवं आग्रह के साथ पढ़ा लिया जाना शुरू होता है । कहने का तात्पर्य यह है कि विकल्प की तलाश भी, विकल्पहीनता के साथ ही साथ जारी थी, उत्तर भारत में हिन्दी क्षेत्र में सामाजिक स्तर पर विकल्प के अभाव की पूर्ति प० बंगाल के विकसित जनवादी आन्दोलन के प्रति आदर और ग्रहण भाव ने की, इसी बीच मुक्तिबोध की जीवन-दृष्टि के प्रकाश ने, विकल्प की खोज को और भी ज्यादा तीव्र और सकारात्मक दिशा की ओर ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । 'अस्वीकारवाद' के इस दौर के तमाम अन्तर्विरोधों की तीव्रतम अभिव्यक्ति धूमिल में दिखाई पड़ती है ।

धूमिल की कविताओं में अकवितावादी कवियों की तरह दिशाहीनता तथा कल्पना विलास का रूप दिखाई नहीं देता, बल्कि धूमिल की कविताओं में रोजमर्रा के जीवन से संगति और उसकी प्रासंगिकता स्पष्ट रूप में दिखाई देती है ।

'धूमिल को आज हिन्दुस्तान में चारों ओर भीषणता से बढ़ते, सघन होते, घेराव का पूरा अहसास है, लेकिन यह अहसास सिर्फ बौखलाहट में व्यक्त नहीं होता। बौखलाहट के पीछे सतही भावुक प्रतिक्रिया और निस्सहायता होती है और उनकी कविता, जब कमजोर और असफल होती है तब भी न तो भावुक प्रतिक्रिया भर है न उसमें कोई दीनता भाव है। गहरी भावात्मक पकड़ के साथ-साथ जो प्रखर और ताजे बिम्बों से जाहिर होती है, धूमिल में बौद्धिक समझ भी है जो अहसास को संयमित करती है और गहरा बनाती है।'[11]

'मोचीराम' संभवत: धूमिल की सबसे बेहतरीन रचना है। इस कविता के माध्यम से कवि आम आदमी के जीवनसत्यों का बड़ाही मार्मिक उद्घाटन करने में सफल रहा है। मानवीय जीवन की तार्किक स्थिति तथा प्राथमिकता की ओर ध्यान खींचते हुए कवि कहता है :--

'सत्य बात तो यह है कि जिन्दा रहने के पीछे
अगर सही तर्क नहीं है
तो रामनामी बेचकर या रण्डियों की
दलाली करके रोजी कमाने में
कोई फर्क नहीं है।'

'धूमिल' के यहां चालू मुहावरों तथा फिकरों का प्रयोग काफी हुआ है, जिनके आधार पर श्री अशोक बाजपेयी ने 'पटकथा' कविता को विश्लेषित करते हुए लिखा था कि 'चूंकि पटकथा एक लंबी कविता है, पढ़ने में ऊब और कभी-कभी चिढ़ भी पैदा होती है।'[12] दरअसल में बाजपेयी जी की यह 'चिढ़' इस वजह से है कि 'धूमिल' अपने दौर के पूरे के पूरे राजनीतिक यथार्थ को एक्सपोज कर रहे होते हैं, अपनी कविताओं के लिए नये जनतंत्र की तलाश कर रहे होते हैं। वे कहते हैं :----

'मुझे अपनी कविताओं के लिए
दूसरे प्रजातंत्र की तलाश है।'

हकीकत में डा० शिव कुमार मिश्र के शब्दों में 'पटकथा' आक्रोश, विक्षोभ और विद्रोह की शब्दावली नहीं, एक ऐतिहासिक 'फर्द जुर्म' है, जिसे समूची युवा पीढ़ी के प्रतिनिधि के रूप में कवि ने आजादी के 20 वर्षों की नंगी वास्तविकता से साक्षात्कार करते हुए समय के हाथों सौंपा है कि वह निर्णय ले और वास्तविकता की जिम्मेदार शक्तियों के खिलाफ उसे कार्यान्वित करे।'[13]

धूमिल की कविताओं में राजनीतिक शब्दावली तथा बुर्जुआ जनतंत्र की ह्रासशील अवस्था का बड़ा ही सटीक रूपायन मिलता है, वह अपनी कविताओं में बुर्जुआ संसदीय जनतंत्र, उसकी नैतिकता, ईमानदारों की दुर्दशा तथा संसदीय जनतंत्र में बोली जाने वाली बुर्जुआजी की भाषा की पोल खोलकर रख देते हैं। कुछ उदाहरण देखें :---

'अपने यहां संसद
तेली की वह घानी है
जिसमें आधा तेल है
और आधा पानी है
दरअसल, अपने यहां जनतंत्र
एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान
मदारी की भाषा है.....

... ...
... ...

मैंने अहिंसा को
एक सचारूढ़ शब्द का गला काटते हुए देखा
मैंने ईमानदारी को अपनी चोर जेबें। भरते हुए देखा।
मैंने विवेक को
चापलूसों के तलवे चाटते हुए देखा ...।'

अपने देश की बेबाक और बेरहम तस्वीर उतारने के बावजूद धूमिल की कविताओं में भी असमान विकास दिखाई देता है । समकालीन कविता होते हुए भी उनकी कविता फैसले पर पहुंची कविता न होकर फैसला लेने की स्थिति को ही उजागर करती है और उसी अर्थ में वे कभी तो समकालीन कविता के प्रगतिशील उभार की सीमाओं में चले जाते हैं और कभी-कभी उससे बहुत पीछे भी छूट जाते हैं ।

धूमिल की कविताओं में कहीं- कहीं अकवितावादी दौर की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है, वे लिखते हैं " हर लड़की । तीसरे गर्भपात के बाद । धर्मशाला हो जाती है । " या "औरतें।योनि की सफलता के बाद । गंगा का गीत गा रही है ।" [14]

इन छोटे-छोटे प्रसंगों के अतिरिक्त धूमिल की अधिकांश रचनाएं समकालीन कविता के बदले हुए मिजाज की द्योतक हैं । इस दौर की कविता में जहां सन् 67 के आम चुनाव में कांग्रेस की पराजय ने प्रभाव डाला वहीं पर "नक्सल बाड़ी " आन्दोलन की शुरुआत ने, कवियों में विशेषकर युवा कवियों का कृषि क्रांति, किसान-मजदूर के जीवन, जनसंघर्षों तथा ठेठ व्यावहारिक जीवन के अन्तर्विरोधों की ओर ध्यान खींचा और पुन: कविता में किसान-मजदूर का जीवन अभिव्यक्ति पाने लगा । इस दौर में साहित्य और राजनीति के अंत: सम्बन्ध पर जमकर विवाद हुआ । किसानों-मजदूरों तथा जनसंघर्षों की काव्य में अभिव्यक्ति का अर्थ यह था कि अकविता की रुग्ण मनोवादी काव्य प्रवृत्तियों से काव्य की मुक्ति की शुरुआत की जाय । डा० मैनेजर पाण्डेय ने इस दौर का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि "1967 की व्यापक जन जागृति का स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य पर एक प्रभाव तो यह पड़ा कि साठोत्तरी पीढ़ी के ऐसे अनेक लेखक और कवि जो "जांघों के जंगल " में पिकनिक मना रहे थे, वे भी इस नए राजनीतिक सामाजिक वातावरण के प्रति सजग सचेत हुए । धूमिल, श्रीराम शुक्ल, मुद्रा राक्षस, लीलाधर जगूड़ी आदि अस्वीकार के रेगिस्तान से निकलकर समकालीन

सामाजिक राजनीतिक यथार्थ की हलचलों को पहचानने लगे ।"[15]

अकवितावादी कवियों के सरगना राजकमल चौधरी को भी यह बात समझ में आ चुकी थी कि " जब तक देश की अर्थ व्यवस्था और शासन व्यवस्था में आमूल, संपूर्ण और क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं होगा । हमारा देश और हमारे देश का मनुष्य स्वाधीन नहीं होगा । यह काम चुनाव संहिता के आधार पर बनी सरकार से संभव न होगा । " ऐसे में "लेखकों और कवियों का सामाजिक दायित्व होता है कि वे जनता को सही जानकारी दें, उसकी स्थिति के विषय में और उसकी मुक्ति के विषय में । आमूल परिवर्तन के लिए जनता को प्रस्तुत करना हम लोगों का कर्तव्य है ।"[16] साहित्य और राजनीति के अंतसंबंध पर जो बहस शुरू हुई थी वो साहित्य के क्षेत्र की पुरानी बहस रही है । किन्तु इस बार इस बहस ने साहित्य और राजनीति के संबंध पर नये रूप में प्रभाव पैदा किया क्योंकि आजाद हिन्दुस्तान की परिस्थिति का इस पर असर था । इस बहस में साहित्य और राजनीति के अंत संबंध को अंतत: साहित्यकारों को किसी न किसी रूप में स्वीकार करना पड़ा । इसकी स्पष्ट वजह यह थी कि संसदीय जनतंत्र के प्रति मोहभंग की शुरुआत हो चुकी थी । नेहरू की प्रगति शील नीतियों की छवि तेजी से टूट चुकी थी । तथा युवा कवि इसको तेजी से महसूस भी कर रहे थे । श्री राजेन्द्र तिवारी ने लिखा था कि :

"दरअसल ! संसद एक ऐसी स्त्री है जिसके गर्भाशय में बहुमत का रूप फिट है । इसी कारण वह फलवती नहीं होती तभी बातों की लड़ाई तो खूब होती है । लेकिन उसका कोई फल नहीं निकलता । होता वही है जो मंजूरे सरकार होता है, फिर मज़ा यह है कि सांसदिकगण मजे से "फिडल" बचाते रहते हैं और रोम जलता रहता है..... मंत्री शाही, अफसरशाही और सेठशाही का त्रिकोण देश की सारी पूंजी को अजगर की तरह लीलता रहता है ।"[17]

इस दौर की एक अन्य मुख्य बहस कविता की रचना-प्रक्रिया पर हुई, जिसमें यह सवाल उठाया गया कि क्या कविता की रचना-प्रक्रिया के नियम एक जैसे होते हैं ? क्या बदलते सन्दर्भों में रचना-प्रक्रिया भी बदलती है ?

दरअसल कविता की रचना की शुरुआत जीवन-जगत के किसी दृश्य, घटना, विचार या संवेदन से होती है । कवि इन दृश्यों-घटनाओं, विचारों व संवेदनों का चयन अपनी वर्गीय सौन्दर्याभिरुचि और अन्तर्निहित वर्गीय रुझानों के तहत करता है, सही विश्वदृष्टि, वैज्ञानिक दर्शन, ज्ञान व तर्क संगत विवेक प्रणाली संवेदनात्मक उद्देश्य की रचना में मदद करती है । यह दौर चूंकि बढ़ते हुए जन-असंतोष व उसकी अभिव्यक्ति का दौर रहा है । अत: इस दौर की कविता में शोषित वर्ग की जिन्दगी से जुड़ने, उसके मुक्ति संघर्षों से यथा संभव तदाकार होने की प्रक्रिया भी दिखाई पड़ती है, यही वजह है कि कविता में घटना, दृश्य, विचार, संवेदन, कण्टेण्ट के रूप में एक कच्चा, सपाट मात्रिक फार्म लिए हुए सामने आते हैं । इस दौर की रचना-प्रक्रिया पर जनान्दोलनों की प्रारंभिक गतिविधियों का प्रभाव व्यापक रूप में दिखाई देता है । इसका नतीजा यह हुआ है कि कवियों का एक ऐसा वर्ग भी पनपा है जो जनवादी आन्दोलनों का सीधा व्याख्याकार है और उसका प्रचारक भी यह एक नये प्रकार का रचनाकार है । वह एक ही साथ सामाजिक कार्यकर्ता और सांस्कृतिक कार्यकर्ता दोनों एक साथ होना चाहता है । ऐसा वह इसलिए करता है कि उसे जैसी संस्कृति, जैसा साहित्य चाहिए वैसा शायद मिल नहीं पा रहा है । अत: वह प्रयास करता है ।

इस दौर की कविता की रचना प्रक्रिया से जुड़ा हुआ एक तबका मध्यवर्गीय जीवन जगत तथा संवेदनाओं से प्रभावित है, यह मध्यवर्गीय तबका रचना-प्रक्रिया में एक अजीब ढंग की आवेगात्मक संवेदनाओं की अभिव्यक्ति करता है ।

मध्यवर्ग के कवियों की विचार दृष्टि, वस्तुगत रूप से यथास्थितिवादी होती है, और जब वो यथार्थ से टकराती है तो इन कवियों के अंदर एक तनाव पैदा

करती है, जो कभी इन कवियों को जनवादी मूल्यों का प्रखर पक्षधर बना देती है तो कभी पलायनवादी । कुछ कवियों में एक और विशेषता दिखाई दे रही है , वह है इनके आंतरिक संवेदना संसार की सचेत अनुपस्थिति । ऐसे अनेक कवि हैं जिन्होंने सप्रयास अपनी रचनाओं में से आत्म स्पर्श की संवेदना के आत्मज स्पर्शों को विसर्जित कर दिया है , जो बाह्य वस्तु जगत के वस्तुकरण में व्यस्त हैं । इस वस्तुकरण की प्रवृत्ति का परिणाम यह भी निकला है कि इन कवियों के हाथ से अपने और पास के जीवन्त अनुभवों के संवेदना तन्तु भी निकले जा रहे हैं और इनके विचार प्राय: निरपेक्ष तत्व मीमांसा की मुद्रा अख्तियार कर लेते हैं । कुछ में इसका परिणाम यहां तक हुआ है कि इनमें यथार्थ की वास्तविकता से पलायन का भाव व्यक्त होने लगा है। ऐसा लगता है मानों आसपास के कटु यथार्थ से नितांत निरपेक्ष कवि को एक ऐसे संसार की आवश्यकता है जहां वह आराम कर सकें ।

रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में चलने वाली इस बहस में भाग लेते हुए श्री जगदीश चतुर्वेदी ने कहा था कि " मैं कविता को घोर वैयक्तिक रचना प्रक्रिया मानता हूं ।"[18] श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन "अज्ञेय" का मानना है था कि "रचना-प्रक्रिया का नये ज्ञान या विज्ञान की नयी खोजों से कोई संबंध नहीं है, न वह किसी मतवाद पर आधारित होती है , न मनोविज्ञान उसे अधिक प्रशस्त करता है न इतिहास और परम्परा का ज्ञान अधिक पुष्ट । न शिल्प अथवा भाषा का ज्ञान उसमें कोई गुणात्मक परिवर्तन लाता है । इन सब बातों का रचना-प्रक्रिया से सीधा कोई संबंध नहीं है, किन्तु रचनाकार के लिए ये सब बहुत महत्व रखती है, क्योंकि जिस मानस की प्रक्रिया होगी उस मानस के संस्कार अपना अनिवार्य महत्व रखेंगे ।"[19] दरअसल में रचना-प्रक्रिया वैयक्तिक प्रयास नहीं है, वह समाज या वर्ग की देन है तथा एक सांस्कृतिक प्रक्रिया के जरिये जो मूल्य रचनाकार अर्जित करता है, वे ही रचना-प्रक्रिया में अपनी अभिव्यक्ति पाते हैं । श्री चंचल चौहान का मानना है कि :

"आज यह बात वैज्ञानिक प्रयोगों से व तर्कसंगत ज्ञान से साबित हो चुकी है, कि आदमी अपने आस-पास की दुनिया से जो रिफ्लेक्स अर्जित करता है वे ही उसके ज्ञान-अनुभव और संस्कार, भाषा और अन्य विचार संपदा, यहाँ तक कि संवेदन और सौन्दर्य की रुचि को बनाते हैं, आत्मिक प्रयास द्वारा वह व्यापक समाज में उपलब्ध ज्ञान व परम्परा को अर्जित भी करता है और उसका संशोधन संपादन करके आवश्यकतानुसार इजाफा भी करता है।"[20]

कविता में रचना-प्रक्रिया एक आधारभूत तत्व से शुरू होती है। इसे कविता में अन्तर्निहित रुझान के तौर पर जाना जाता है, तथा "मुक्तिबोध" इसे "संवेदनात्मक उद्देश्य" कहते हैं। उनके अनुसार "ये संवेदनात्मक उद्देश्य लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व का एक भाग है। उसके अनुभवात्मक इतिहास से संबंध रखते हैं। उसकी विद्यमान जीवन-स्थिति और मनोदशाओं से संबंधित रहते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही कलात्मक अभिव्यक्ति होती है।"[21]

इस दौर में एक पक्ष कविता का वो भी था जो कि हिन्दी कविता की परम्परा की जनवादी विकासशील धारा का प्रतिनिधित्व करता था। इसके प्रतिनिधि कवियों में थे केदार, त्रिलोचन, नागार्जुन, शील, मुक्तिबोध आदि। केदार, त्रिलोचन, नागार्जुन की वृहत् त्रयी की कविताओं में दैनंदिन मानवीय जीवन के सुख-दुख, उसके अंदर व्याप्त शोषण, शहर और गांव के नारकीय जीवन की बड़ी ही साफ और बेबाक तस्वीर मिलती है। केदार की कविताओं में जो जन है वह देश-देशान्तर में फैला हुआ है। यही वजह है कि "केदार जन के पौरुष, संकल्प तथा जन की अपराजेय आस्था के कवि हैं। संकल्प और निष्ठा से पूर्ण जागृत जन अपनी समूची ऊर्जा तथा शक्ति के साथ केदार की रचनाओं में मौजूद है।"[22] जबकि त्रिलोचन इस त्रयी की प्रमुख कड़ी होने के नाते अपनी कविता में शुरू से ही ग्रामीण परिवेश से जुड़ी रचनाएं करते रहे हैं, इसीलिए उनकी कविता की रंग रंग में ग्रामीण जीवन के तत्व दिखाई देते हैं।

"उनकी कल्पना, उनकी भाषा का मुहावरा, रचना के भीतर की उनकी सोच सब कुछ प्रकृत्या बड़ी सहज और आडम्बर हीन है ।"[23]

त्रिलोचन की कविता में व्यक्त सुख-दुख, सामाजिक जीवन का सुख-दुख बनकर उभरा है ।

इसी दौर के सबसे महत्वपूर्ण जनवादी कवि के रूप में हम नागार्जुन को बढ़ते हुए जनवादी काव्यान्दोलन के रूप में देखते हैं । नागार्जुन की कविताओं में हिमालय के प्रकृति वर्णन से लेकर गांव के तमाम व्यापक जीवन को विविध रूपों में उद्घाटित किया है, जिस तरह उन्होंने जनता के गुस्से का राजनीतिक पक्ष अभिव्यक्त किया है । वह अन्य किसी भी कवि में उतनी तल्खी के रूप में नहीं दिखाई देता । नागार्जुन की कविता का दायरा मानवीय जीवन की तरह विविध और व्यापक व संश्लिष्ट है । इनकी कविता में शोषितजन की पक्षधरता पूरे के पूरे काव्यजगत को आकर्षित ही नहीं करती, अपितु वैज्ञानिक चिन्तन से लैस होने की वजह से समाज के विकास की, राज्यसत्ता के बुनियादी वर्ग चरित्र, राजनीति के प्रति क्या रुख हो ? इसकी स्पष्ट घोषणा तथा शोषित वर्ग के प्रति अपनी पक्षधरता को भी स्पष्ट करती है । नागार्जुन ने इस दौर में प्रकृति, शृंगार, दाम्पत्य, वात्सल्य, करुणा, आदि विषयों पर जनतांत्रिक जीवन मूल्यों के विकास की परम्परा का विकास करते हुए काव्य-रचना की है । कहने का तात्पर्य यह है कि नागार्जुन अपने रचना संसार में पूरी तरह से जनतांत्रिक जीवन मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्षरत कवि के रूप में नजर आते हैं । अपनी कविता के लिए ऊर्जा वे जनता से अर्जित करते हैं, और वही उनकी रचनाशीलता की शक्ति की भी द्योतक है । डा०शिवकुमार मिश्र के शब्दों में :

"नागार्जुन देश की साधारण जनता की प्रगति का भी ऊर्जस्वित और प्राणमयी चेतना से पूरी तरह स्कात्म करने वाले उसके प्रतिनिधि रचनाकार के हैं । उनकी सर्जना साधारण जनों के जीवन से रस लेती है, प्राणशक्ति अर्जित करती है किन्तु साधारण जन को शिक्षित भी करती है, उसकी कमजोरियों पर उंगली भी रखती है, उसे मांजती भी है ।"[24]

सन् ७० के करीब तक आते आते जनता के अंदर असंतोष और भी गहरा रूप ग्रहण करने लगता है, इस असंतोष ने जहां जनता को एकजुट होने के लिए मजबूर किया, वहीं दूसरी ओर शासक वर्ग ने बड़ी ही मुस्तैदी के साथ अपने डंडे के बल पर जनता के व्यापकतम तबकों - विशेषकर मजदूरों- किसानों तथा छात्रों पर अपने हमले तेज कर दिये । ये हमले जन संघर्षों पर खुले हमलों के रूप में सन् 72 में हुए प० बंगाल विधान सभा चुनाव में हुई जबर्दस्त धांधली के रूप में सामने आए तथा दूसरी ओर मेहनतकश वर्ग की 'ऐतिहासिक रेल हड़ताल' 'गुजरात' 'बिहार' के छात्र आंदोलन के विरोध में बढ़ते तानाशाही रुझान तथा बढ़ते हुए दमन के रूप में सामने आए । इन आंदोलनों ने जनता के सभी तबकों को प्रभावित किया । तथा शासक वर्ग की नींद भी इससे हराम हुई । इस बीच जनवादी ताकतों के बढ़ते हुए आन्दोलन ने शासकवर्ग तथा सेठों के अधिकार में चलने वाले प्रचार-प्रसार के साधनों के जवाब में अपने प्रचार के साधन के तौर पर 'लघु पत्रिकाओं' के आंदोलन को जन्म दिया । देश के कोने-कोने से लघु पत्रिकाएं इस बीच प्रकाशित की गईं । इन लघु पत्रिकाओं की प्रसार संख्या उतनी नहीं थी, जितनी कि शासक वर्ग या प्रतिष्ठानी पत्रिकारिता से जुड़ी पत्रिकाओं की थी । फिर भी इन पत्रिकाओं के मुकाबले लघु पत्रिकाएं ज्यादा सार्थक तथा महत्व की साहित्य रचनाएं छाप रही थीं । एक नये किस्म का सांस्कृतिक आंदोलन तैयार कर रही थीं । सन् 74 तक आते-आते जनसंघर्षों में अभूतपूर्व वृद्धि देखने में आती है । लाखों लाख मेहनतकश वर्ग के लड़ाके वीरों ने इन संघर्षों का नेतृत्व किया, सन् 73 की 'रेल हड़ताल' के दौरान कांतिमोहन ने 'रेल हड़ताल' पर गीत लिखा, जिसकी अंतिम पंक्तियां थी ' रेल का चक्का मेल का चक्का तेल का चक्का जाम करो । पुलिस का चक्का फौज का चक्का जेल का चक्का जाम करो ।'[25]

जनवादी कविता की इस धारा में नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन के अलावा विजेन्द्र, कांतिमोहन, अशोक चक्रधर, मनमोहन, रमेशरंजक आदि की गणना की जा सकती है । इसकी कविताओं में सामाजिक जीवन के बहुविध अंतरंग चित्र दिखाई देते हैं, उनमें आलोड़न है, संघर्ष का स्वर है, इन कवियों की कविताओं

में रोजमरा की जिन्दगी की वास्तविकता से संपर्क टूटता दिखाई नहीं देता । इस समय की कविता के मोर्चे पर दूसरी ओर वो रचनाएं हैं, जिनके अंदर जीवन का यथार्थ तो है, लेकिन उसको संयोजित करने वाली क्रांतिवादी दृष्टि हर समय नहीं है । जनता के जीवन के करुणापूर्ण चित्र तो हैं,लेकिन यह समझ गायब है कि अंतत: इसका कारण वही शासक शोषक वर्ग है जो आजादी के बाद से सत्तारूढ़ है । अपराध के असली जिम्मेदार को या तो बड़ी सफाई से ये कवि बचा गये हैं अथवा अनजाने ही उनसे यह हुआ है । यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए सही रूप तथा भाषा के साथ उसके संबंधों की समस्या सामने आई जिस पर बहस चलाते हुए डा० नामवर सिंह ने 'आलोचना' के 29 वें अंक में समकालीन कविता के बहुत सारे हिस्से को भाषा और रूप के आधार पर खारिज करते हुए उसे 'अंधलोकवाद', 'प्रयोगहीनता', 'प्रचारात्मकता', 'दुरुहता', और जटिलता का अभाव, 'परम्परागत चिर-परिचित रूप और भाषा' आदि न जाने अनेक नामों से व्याख्यायित किया । इसी अंक में शमशेर ने कहा कि प्रगतिशील कवि नए पुराने रूप, भाषा, जिसमें भी वह लिखेगा अंदर का 'कंटेण्ट' उसे बदल देगा । समकालीन कवियों ने अपने ऊपर लगाए गए इन आरोपों का व्यावहारिक धरातल पर उत्तर दिया । अशोक चक्रधर ने रेल हड़ताल पर 'हक की लड़ाई उर्फ दुनिया के मजदूरों एक हो' नौटंकी लिखकर यह प्रमाणित कर दिया कि कोई भी कला रूप समकालीन कवि के लिए अछूत नहीं है । वह जिस भी रूप में अपनी बात कहेगा वह बात पुरानी नहीं नयी होगी । रमेश रंजक, क्रांतिमोहन, सर्वेश्वर आदि ने उपेक्षित गीत विधा को अपना माध्यम बनाकर भी यही प्रमाणित किया इस दौर की कविता में जन भाषा का जिस तेजी से सहज रूप में प्रयोग बढ़ा है, वो भी डा० नामवर सिंह की धारणा को ही खंडित कर रहा होता है ----

उदाहरण देखें :---

त्रिलोचन की कविता 'न गई महरा' की ये पंक्तियां :

'रस्सियां भी नगई बरा करता था । सुतली को कातकर बाध बनाता था । कहता था दैव ने मुंह चीर दिया है । जिसमें कुछ देने को हाथ तो चलाना है ।'[26]

या नागार्जुन की कविता का यह अंश

'धरती धरती है । पन्हाई हुई गाय नहीं । कि चट से दूह लो कटिया भर दूध ।'[27]

अथवा अशोक चक्रधर की 'खचेरा और उसकी फैण्टेसी' में जन भाषा का यह प्रयोग देखें :---

'अब खचेरा कुल मिलाकर एक बेगार है । वह बौहरे की जूती का तेल है । वह पंडित की लड़ावनी की सानी है । वह साहजी की बैठक का फाड़ू है । वह रमजिया के हुक्के का पानी है । वह बैज्जी के बैल का खरेरा है ।'[28]

कहने का तात्पर्य यह है कि आपात्काल के पूर्व के साहित्य जगत् में - विशेष रूप से कविता के क्षेत्र में -- जनता के अंदर व्याप्त असंतोष बड़ी ही बेबाक शैली में अभिव्यक्ति पाता है, वहीं पर ऐसे भी रचनाकार नज़र आते हैं जिनकी रचनाएं इस संघर्ष की परिधि को भी स्पर्श नहीं करतीं । स्पष्ट रूप से साहित्य के क्षेत्र में दो धाराएँ दिखाई देती हैं । प्रगतिशील जनवादी धारा जिसकी प्रतिनिधित्व केदार, नागार्जुन के अलावा केदारनाथ सिंह, कांतिमोहन, सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय, रमेश रंजक आदि करते हैं । दूसरी वह धारा है जिसका प्रतिनिधित्व अज्ञेय, कैलाश वाजपेयी, प्रयागशुक्ल, आदि करते हैं ।

चूंकि आजादी के बाद का दौर जनवादी जीवन मूल्यों, कला मूल्यों, की हिफाज़त तथा उनके विस्तार का दौर है । अत: इस दौर का वह तमाम साहित्य हमारे काम का है जिसमें जनवादी कला मूल्यों का भाव विकसनशील अवस्था में भी दिखाई देती है । साथ ही ऐसा साहित्य तबही लिखा जा सकता है जबकि रचनाकार का जनता से जीवन्त संबंध हो । वह उसके जीवन में शिरकत करता है । यही उसकी रचना के लिए ऊर्जस्रोत का कार्य करेगा । डा० शिव कुमार मिश्र ने जनवादी साहित्य की परिभाषा देते हुए सही लिखा था कि ---

"इस अर्थ में वह तमाम साहित्य जो बहुसंख्यक जनता की आशाओं, आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देता है, उसकी शोषण के खिलाफ एकजुटता को मजबूत बनाता हो, उसमें संघर्षशील भाव जगाता हो, शोषण को नंगा करता हो । वह जनवादी साहित्य कहलायेगा । इस साहित्य का स्रोत जन जीवन ही होगा ।"[29]

---00000---

द्वितीय अध्याय की पाद टिप्पणियां

1. मुक्ति बोध रचनावली खण्ड-5, पृष्ठ- 227
2. ,, ,, पृष्ठ- 204
3. ,, ,, पृष्ठ- 331
4. चांद का मुंह टेढ़ा है --
5. साहित्य और इतिहास दृष्टि - पृ0-224: डा0 मैनेजर पाण्डेय
6. आलोचना - अप्रैल-जून 1967
7. फिलहाल - पृष्ठ-63, अशोक बाजपेयी ।
8. आलोचना नवांक 8, जनवरी-मार्च 69, पृष्ठ- 71
9. (सुरेन्द्र चौधरी - समकालीन कविता : अंधेरे से साक्षात्कार :)
9. उपरोक्त -
10. उपरोक्त -
11. फिलहाल - पृष्ठ- 25-26 , अशोक बाजपेयी ।
12. उपरोक्त - पृष्ठ- 32
13. साहित्य और सामाजिक संदर्भ -पृ0-110- डा0 शिव कुमार मिश्र
14. संसद से सड़क तक - पृ0-9, धूमिल
15. साहित्य और इतिहास दृष्टि - डा0 मैनेजर पाण्डेय, पृ0-229
16. 'चुनाव के बाद भारत' परिसंवाद से - 'आलोचना' -जून 1967
17. गजेन्द्र तिवारी :'हस्ताक्षर' पृ0-48 : सन् 1968
18. जगदीश चतुर्वेदी :'इतिहास हंता' के आत्मकथ्य से उद्धृत
19. अज्ञेय : कल्पना फरवरी 61, पृष्ठ- 108
20. संचल चौहान - जनवादी साहित्य के दस वर्ष - पृ0- 73
21. नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र-मुक्तिबोध - पृ0-90
22. अंक - (समकालीन जनवादी कविता अंक) शिवकुमार मिश्र - पृ0-67
23. उपरोक्त : पृष्ठ- 70

24. कृति - (समकालीन जनवादी कविता अंक) शिव कुमार मिश्र- पृ०-70
25. उत्तरार्द्ध : 7 :(पृष्ठ- 36)
26. त्रिलोचन : "नगई महरा" आलोचना" 24 में उद्धृत पंक्तियां पृष्ठ-2
27. "तालाब की मछलियां" : नागार्जुन- पृष्ठ- 76
28. उत्तरार्द्ध : 6 : पृष्ठ- 25
29. कृति - समकालीन जनवादी कविता अंक - शिव कुमार मिश्र - पृ०-62

तीसरा अध्याय

आपात्कालीन हिन्दी कविता

आजादी के बाद हिन्दुस्तान के शासक शोषक वर्ग ने जिस तरह की आर्थिक-राजनीतिक नीतियों को निर्धारित किया था, उसकी वजह से आर्थिक असमानता, बेरोजगारी, महंगाई, तथा जन-जीवन में असुरक्षा की भावना बलवती हुई । बढ़ती हुई आर्थिक असमानता के चलते जहां एक ओर पूंजीपति वर्ग, इजारेदार पूंजीपति वर्ग के रूप में तब्दील हुआ, वहीं पर गांवों में भूमि कुछ हाथों में केन्द्रित होती चली गयी । आर्थिक क्षेत्र में बढ़ती हुई इस केन्द्रीकरण की प्रक्रिया ने राजनीतिक क्षेत्र को भी प्रभावित किया । जिसके कारण सत्ता का भी दिनों दिन केन्द्रीकरण होता चला गया । सत्ता दिनों-दिन जनता की बुनियादी स्वतंत्रताओं का हनन करने लगी और इसी आर्थिक विकास के चलते 'आंतरिक आपात्काल' का आगमन हुआ । आपात्काल' के 26 जून 1975 को पूरे देश पर लागू होने से पूर्व सन् 1971 के भारत-पाक युद्ध के समय से बाहरी खतरों के खिलाफ सुरक्षा के नाम पर 'आपात्काल' लगा हुआ था । लेकिन 'आंतरिक आपात्काल' के लागू हो जाने के कारण देश पूरी तरह अधिनायकवाद के शिकंजे में आ गया ।

साहित्य के क्षेत्र में विशेषकर कविता के क्षेत्र में इसका व्यापक प्रभाव व प्रतिरोध नजर आता है । यही वजह है कि आंतरिक आपात्काल' लागू होने के साथ जहां एक ओर विरोधी राजनीतिक दलों के कार्यकर्ताओं को जेलों में डाल दिया जाता है । वहीं दूसरी ओर रचनाकर्मियों को भी बिना वजह गिरफ्तार करके जेलों में भयंकर यातनाओं का शिकार बनाया जाता है । रचनाकारों से अधिनायक तंत्र का विरोध होना स्वाभाविक था क्योंकि ---

'तानाशाही सच्चाई को छिपाना चाहती है, झूठ को सच के रूप में पेश करती है और लेखक झूठ के भ्रम जाल में से सच को खोज निकालने का प्रयत्न करता है, तानाशाही सच्चाई से डरती है और लेखक सच्चाई से प्रेम करता है , इसलिए तानाशाही और लेखन में अनिवार्य विरोध होता है ।'[1]

इस दौर में वो तमाम रचनाकार या कवि शासन के क्रोध के शिकार हुए जो जनवादी जीवन मूल्यों में आस्था रखते थे । उनकी हिफाजत के लिए संघर्षरत थे । लेकिन आपात्काल में ऐसे रचनाकारों की कमी नहीं थी जो कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर हो रहे हमलों के पक्ष में, सेंसरशिप, तथा आपात्काल के पक्ष में सरकार की खुले आम पैरोकारी कर रहे थे, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर से लेकर स्थानीय स्तर तक 'फासिज्म विरोधी' होने का साथ-साथ ढोल भी पीट रहे थे । ऐसे ही लेखकों की एक मीटिंग 12-13 अगस्त 75 को नई दिल्ली में प्रगतिशील लेखक महासंघ' के बैनर के तहत हुई । जिसमें 'वर्तमान स्थिति और लेखक की भूमिका' नामक प्रस्ताव पास किया गया । 'प्रस्ताव में जहां एक ओर आपातू स्थिति का स्वागत किया गया ।'[2] वहां पर सेंसरशिप का भी समर्थन करते हुए प्रस्ताव पारित किया गया ।[3] और आपात्काल के पक्ष में रचना के क्षेत्र में भी रचनाकारों से मुहिम छेड़ देने का आह्वान किया गया ।

डा० मैनेजर पाण्डेय ने इस दौर के रचना कर्म का विश्लेषण करते हुए सही लिखा है कि ---

'भारत में आपात्काल के दौरान अंधेरे में गीत गाने वालों का अभाव न था । भ्रम, भय तथा लाभ-लोभ के कारण अनेक लेखक और कलाकार उसका समर्थन कर रहे थे । लेकिन उस व्यवस्था के समर्थन में एक भी सार्थक रचना संभव न हो सकी । असल में भय, भ्रम या लाभ-लोभ से संचालित लेखन व्यवसाय तो हो सकता है, रचना नहीं । रचना के लिए जिस स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है, तानाशाही उसकी अनिवार्य दुश्मन है ।'[4]

राज्य सत्ता की भक्ति में प्रणत रचनाकारों से यह संभव ही नहीं था कि वो श्रेष्ठ काव्य सृजन कर पाते , हकीकत तो यह है कि काव्य सृजन के बहाने शासक वर्ग को खुश करने व कुछ सुविधाएं हासिल करने के नाम पर इन तमाम रचनाकारों (आपात्काल के पक्षधर) ने व्यवसाय जरूर किया ।

शासक वर्ग की यह नुमाइंदगी उस समय हो रही थी, जब जनता के मौलिक अधिकार छीने जा चुके थे, तथा अभिव्यक्ति की आजादी तक शेष नहीं रह गयी थी । इस सन्दर्भ में सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिए गये फैसले को देखा जाना चाहिए जो कि आपात्काल की स्थिति को उजागर करता है : फैसले में कहा गया था कि :---

"आपात्कालीन स्थिति के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा नागरिक के अधिकारों की समाप्ति सम्पूर्ण है, किसी भी नागरिक को किसी प्रकार का कोई भी अधिकार नहीं है कि वह राज्य या राज्य के किसी कर्मचारी द्वारा सताये जाने, स्वतंत्रता हड़पे या उसकी सम्पत्ति पर कब्जा करने के मामले को किसी अदालत में चुनौती दे सके । "इसी निर्णय में आगे कहा गया था कि " सरकारी अधिकारी व सेवक नागरिकों के साथ जैसा भी व्यवहार करेंगे । उसके विरुद्ध न कोई दलील है, न वकील है, न अपील है ।"[5]

मौलिक अधिकारों के हनन के इस दौर में रचनाकारों पर एक नयी चुनौती तथा जिम्मेदारी आ पड़ी जिसके कारण शैली के साथ-साथ प्रतीकों, बिम्बों के भी नये-नये प्रयोग अभिव्यक्ति को बनाए रखने तथा फासीवाद की ओर बढ़ रहे शासन तंत्र के जन-विरोधी चरित्र को उजागर करने के लिए रचनाकारों को करने पड़े जिसकी वजह से श्रेष्ठ कलात्मक काव्य-रचनाओं के विभिन्न फलक इस दौर में दिखाई देते हैं ।

जो रचनाकार आपात्काल में प्रेस सेंसरशिप के पक्ष में प्रस्ताव पास कर रहे थे और सरकार की पैरोकारी कर रहे थे वैसे रचनाकारों को 19 फरवरी 76 को बम्बई हाई कोर्ट के फैसले को जरूर पढ़ना चाहिए तथा उससे सबक भी हासिल करना चाहिए । बम्बई हाई कोर्ट के फैसले में "प्रेस सेंसरशिप " के खिलाफ निर्णय देते हुए माननीय न्यायाधीशों ने कहा था कि ---

"जनमत को जबर्दस्ती एक ही दिशा में ठेलने का अधिकार सेंसरशिप को

नहीं हो सकता । प्रेस को जनता के मगज की धुलाई का हथियार बनाना उचित नहीं है । सभी अखबारों और समकालीन पत्र-पत्रिकाओं से एक ही दिशा की हवा में पाल खुलवाना, उन्हें एक ही फाइल में बांधे रखना था उनसे एक ही स्वर में अलाप करवाना किसी भी स्थिति में उचित नहीं है ।[6]

इस निर्णय का यह कतई निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि आपात्काल में न्यायपालिका स्वतंत्र थी । वस्तुत: न्यायपालिका को कार्यपालिका के मातहत कर दिया गया था तथा जिन न्यायाधीशों ने शासन तंत्र के विपरीत फैसले दिए उन्हें तरह-तरह की यंत्रणाओं का सामना करना पड़ा ।

रचना के क्षेत्र में आपात्काल पूर्व जो अनाप-शनाप तरीके से व्यक्त कविता के रूप दिखाई देते हैं । आपात्काल लागू होते ही, रचना के स्तर पर उस सारी उछल-कूद का तेवर बदल जाता है तथा इस दौर में काफी अच्छी व गंभीर रचनाएं लिखी जाती हैं । इन तमाम रचनाओं में अभिव्यक्त सामाजिक-राजनैतिक यथार्थ उस रूप में सामने नहीं आता जिस रूप में आपात्काल से पूर्व वो कविता के क्षेत्र में अभिव्यक्ति पा रहा था । आपात्काल पूर्व जहां जनतांत्रिक छूट का माहौल था, सीधे-सीधे किसी भी बात को व्यक्त करने की छूट थी वहीं पर आपात्काल में प्रत्यक्ष रूप की बजाय प्रच्छन्न रूप की ओर रचना शक्ति ज्यादा अग्रसर हुई । प्रच्छन्न भाव से अभिव्यक्त सामाजिक- राजनैतिक यथार्थ ज्यादा कलात्मकता तथा श्रम की मांग भी रचना प्रक्रिया के क्षेत्र में पैदा करता है जिसके कारण बेहतरीन काव्य सृजन इस दौर में संभव हो पाया । चूंकि इस दौर की 'प्रतिरोधी ' रचना शक्ति को प्रकाशन व प्रचार के माध्यम नहीं के बराबर उपलब्ध थे । अत: यह भी धारणा बनने लगी कि आपात्काल में रचनाकारों ने विरोध ही नहीं किया । यहीं पर यह ध्यान रहे कि इस दौर में वो ही रचनाकार अपनी अभिव्यक्ति की लड़ाई को जनता की लड़ाई से जोड़कर जारी रख सका । जो जनता के संघर्षों से जुड़ा था या उनसे प्रतिबद्ध था और यही वजह है कि ये रचनाकार श्रेष्ठ काव्य का सृजन करने में भी सफल हो सके । लेकिन ' आपात्काल के दौरान उन लेखकों को कोई कठिनाई नहीं हुई जो शाश्वतता में जीते हैं या जिनकी कविता

समाज से नहीं, पूर्ववर्ती कविताओं से पैदा होती है । जाहिर है ऐसी कविता उन कविताओं से पैदा नहीं हुई होगी जो समाज से पैदा हुई हो ।"[7]

आपात्काल का रचना-प्रक्रिया पर भी भयंकर दबाव पड़ा जिससे हिफाज़त करते हुए तमाम जनवादी रचनाएं देने में कवि समर्थ इसलिए हो सके क्योंकि उन्होंने अपनी 'अभिव्यक्ति' के 'औजार' भी बदल दिये थे जिसके कारण इनकी रचनाओं में जनता के दु:ख दर्दों, आकांक्षाओं की भी अभिव्यक्ति हो सकी । अधिनायकवाद के दौर में कविता के निर्माण के लिए सत्य की अभिव्यक्ति के लिए यह जरूरी हो जाता है कि कवि सही प्रतीकों, बिम्बों, उपाख्यानों या चरित्रों को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाए चूंकि इस दौर में सम्प्रेषण प्रच्छन्न भाव से ही संभव हो पाता है अत: जनता के रोजमर्रा के जीवन से जुड़े होने उसके अनुभवसंसार तथा ज्ञान संसार से गहरे जुड़ाव की तदनुरूप प्रतीकों - बिम्बों आदि के चयन की संभावना आसान होती है तथा सम्प्रेषण की प्रक्रिया में सुविधा भी रहती है ।

उपरोक्त स्थिति के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए जो भी कवि या रचनाकार रचना लिखता है वो निश्चित रूप से जनता से अपनी बात कहने में सफल भी हो पाता है ।

आपात्काल में ही प्रकाशित श्री सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के काव्य संग्रह 'जंगल का दर्द' को लिया जा सकता है । इस संकलन में आपात्कालीन 58 कविताएं हैं जिनमें आपात्कालीन दमन, उत्पीड़न की बेहतरीन काव्यात्मक अभिव्यक्ति मिलती है । इन कविताओं में जहां एक ओर जनवादी मान्यताओं, जीवनमूल्यों पर हो रहे प्रहारों का चित्रांकन है, वहीं दूसरी ओर जनता की ताकत पर अगाध विश्वास भी है, श्री सर्वेश्वर की कविताओं में जनता 'आग' के प्रतीक के रूप में है तो शासक शोषक वर्ग को 'काला तेंदुआ' तथा 'मेंढ़िये' के रूप में स्थापित किया गया है ।

आपात्कालीन सन्नाटे का वर्णन करते हुए कवि लिखता है - " कितनी ठण्ड है । शब्द कंठ में ही । बर्फ हो गए । फिर भी स्मृतियां । आग की तरह धधक रही है । जैसे बर्फ में मशाल लेकर । कोई जा रहा हो ।"[8]

शासक वर्ग की नुमाइन्दगी में रत बुद्धिजीवियों पर तीखा प्रहार करते हुए कवि कहता है --" समय आ गया है । जब इन्हें आदमी और गधे का । रिश्ता समझाना होगा । इन्हें आदमी होने का अहसास कराना होगा । और उनको गधा होने का ।"[9]

श्री सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'धूल-1 ' तथा 'धूल - 2 ' शीर्षक कविताएं जनता की अदम्य स्फूर्तता तथा अदमनीय साहस को रेखांकित करती है, वहीं पर आपात्काल में मजदूर वर्ग पर हो रहे प्रहारों को भी अभिव्यक्ति देते हुए कवि अन्य जगह लिखता है --"साथियों । महीनों से आपकी । पगार रुकी हुई है । मालिकान दरख्वास्त हज़म करते । जा रहे हैं ।"[10]

मज़दूर तथा किसान वर्ग की चेतना के साथ स्फोटकार करने की प्रक्रिया की अनुभूति को अभिव्यक्त करते हुए कवि कहता है कि ---" अब । उनका और मेरा चेहरा एक हो गया है । हम सब एक अंगार है, एक लपट, एक आग । एक शब्द- एक अर्थ, एक राग । एक चरण, एक यात्रा, एक राह । एक संकल्प, एक तारा, एक चाह । समर्पित । एक क्रांति को ।"[11]

अधिनायकवादी निजाम में लालफीताशाही का बढ़ता हुआ आतंक किस तरह जनता को पीड़ित करता है । इसे बेहतरीन तरीके से "रेंगता सांप " में कविता में देखा जा सकता है । आपात्कालीन सत्ता षड्यंत्रों तथा शासक वर्ग की इच्छाओं को किस तरह जनता पर लादा जा रहा था । जनता को मानने को मज़बूर किया जा रहा था । उसका वर्णन 'काला तेंदुआ ' में देख सकते हैं । पुलिस, फौज के माध्यम से जो दहशत तथा आतंक भरी शान्ति माहौल में पैदा की जारही थी उसका रूपायन 'लाल सायकिल ' कविता में किया गया है । इस पूरे परिवेश का

चित्रण करने के बाद कवि कहता है कि "स्थिति । आसानी से बदली जा सकती है । केवल थोड़ी सी हरकत जरूरी है । तुम्हें हाथ बढ़ाना होगा ।"[12]

लेकिन आपात्काल का सही नामकरण श्री गिरधर राठी ने ही किया । इन्होंने आपात्काल " को "अनुशासन पर्व " के रूप में स्वीकारने के बजाय "मृत्यु पर्व " की संज्ञा से अभिहित किया । कवि के ही शब्दों में ---

"इस वर्तमान का कोई नाम नहीं है । अभी । मृत्यु को नाम नहीं दिया गया है । अभी ।"[13]

वस्तुत रूप से अगर आपात्काल को "मृत्यु " पर्व के रूप में विश्लेषित करें तो हमें सही फलितार्थों तक पहुंचने में आसानी होगी । इस दौर में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, आदि का जिस तरह से खात्मा करके जनता को अपंग बना दिया गया था उसका वर्णन करते हुए कवि कहता है :---

"कुल जमा तीन पात्र । होंठ, कान, आंख । तीनों अपंग । नेपथ्य हाथ मांजता रह गया ।"[14]

श्री गिरधर राठी की कविताओं में जनता पर होने वाले दमन-आतंक की छाया का तो वर्णन मिलता है लेकिन जनता का प्रतिरोधी भाव का रूपायन इनकी कविता से नदारत है । आपातकालीन अत्याचारों का जनता किस तरह सामना कर रही थी । इसका जिक्र इनकी कविता में नहीं दिखाई देता । इसके विपरीत वो जनता को निरीह रूप में चित्रित करतेहुए कहते हैं :---

"हम बीच में टंग गये । दहाड़ते..... सिसकते.... टट्टी करते ।"[15]

श्री गिरधर राठी की " स्वर्ग से एक और रपट " नामक कविता बड़े ही कलात्मक ढंग से आपात्काल के हिन्दुस्तान की हकीकत को सामने रख देती है । कवि कहता है -- औरतें देवियां थीं । आदमी देव । स्वर्ग में बच्चे नहीं थे । " " धीरे-धीरे खत्म हो जाती है । मानुषगंध । स्वर्ग में । स्वर्ग एक और मृत्युलोक बन जाता है । " कवि के यहां हिन्दुस्तान "स्वर्ग " है । और उसकी हकीकत यह है कि वो मृत्युलोक बन गया है ।

'तिहाड़ का दृश्य' नामक कविता कैदी जीवन की अमानवीयता को उघाड़ती हुई सामने रखती है । कवि के शब्दों में 'दीवारों में दीवारों के पार जहां तक देख सकोगे । ईंट दिखेगी । ईंट नहीं तो चूना पत्थर कंकरीट का लेप दिखेगा । आगे भी दीवार दिखेगी । पीछे भी दीवार दिखेगी । आसपास दीवार दिखेगी + जितना चाहो हंसते जाओ । हंसने पर दीवार दिखेगी ।'[16]

आपात्काल के दौर में जनता रूपी 'कबूतर' की हालत यह है कि वो जहां पर 'चुग्गा' मारता है , वहां उसे मिट्टी मिलती है, कबूतर परेशान है, कवि के ही शब्दों में ---'कबूतर बहुत गर्दन हिलाता था । पर जहां चुग्गा मारता था । मिट्टी मिलती थी- कबूतर क्या चाहता है ?'[17]

आपात्काल में राज्य सत्ता के द्वारा निर्देशित कार्यों का अनुगमन करना प्राथमिक व अनिवार्य शर्त थी जिसकी अवहेलना करने पर जनता को तरह-तरह यातनाओं का सामना करना होता था लेकिन सचेत रचनाकार इस बात से अच्छी तरह वाकिफ थे कि सरकार के कार्यों का अनुगमन करने का मतलब होगा, अपने सभी जीवन मूल्यों को तिलांजलि देना । श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' आपात्कालीन सत्ता कुचक्रों को भली भांति पहचान रहे थे कि सत्ता के कार्यक्रम जनता के कार्यक्रम नहीं है, बल्कि वो जनता को नपुंसक बनाने वाले प्रोग्राम हैं - कवि के ही शब्दों में ---

'तुम्हारी गरज । हमारी गरज नहीं है । तुम्हारे कप्पे । हमारे कप्पे नहीं हैं । तुम्हारी ताकत । हमारी ताकत नहीं है बल्कि । हमें निर्वीर्य करने में लगी है ।'[18]

वर्ग समाज में शासक शोषक वर्ग की मंजिल जनता की मंजिल नहीं हो सकती । जनता को अपनी मंजिल का निर्माण स्वयं करना होगा । साथ ही उसकी सुरक्षा की जिम्मेदारी को भी लेना होगा । श्री अज्ञेय के शब्दों में 'हमें अपनी राह चलना है । अपनी मंजिल । पहुंचना है । हमें चलते-चलते वह मंजिल बनानी है । और तुम सबसे उसकी रक्षा की । व्यवस्था भी हमें चलते-चलते करनी है ।'[19]

इस दौर की श्री अज्ञेय की बेहतरीन काव्य रचना के तौर पर "नाच" को लिया जा सकता है जिसमें आपात्कालीन आतंक, असुरक्षा, असंतोष को बहुत बढ़िया ढंग से अभिव्यक्ति दी गई है। हिन्दुस्तान की राजनीति की आजादी के बाद की हकीकत, राजनेताओं की ऐशो-आराम की जिन्दगी तथा भ्रष्टाचार में लिप्त दुनिया का व्यंग्य भरा चित्रण "जियो, मेरे" नामक कविता में मिलता है। इसी कविता में राजनीतिक व सांस्कृतिक कर्मियों पर पाश्चात्य पतनशील प्रभावों का कैसा रूप असर कर रहा है। इसका वर्णन भी मिलता है। राजनेताओं पर व्यंग्य कसते हुए कवि कहता है "जियो, मेरे आजाद देश के ऐशन - जमीर लोकनेताओ। जिनकी मर्यादा वह हाथी का पैर है जिसमें। सबकी मर्यादा समाजाती है। जैसे धरती में सीता समा गयी थी।"[20]

आपात्काल में उपरोक्त "फार्म" में व्यक्त काव्य रूपों के अलावा भी नये-नये प्रयोग कवियोंने किये थे - विशेष रूप से उल्लेखनीय प्रयास के रूप में श्री रमेश रंजक की कविताओं को देखा जा सकता है, इनकी इस दौर की रचनाओं में गीतात्मकता, आंचलिकता तथा जीवन से गहरे जुड़े वस्तु तत्वों का बड़ी ही कारीगरी के साथ में प्रयोग किया गया है। इनके इस दौर के गीतों में जो काव्यात्मक श्रेष्ठत्व है, साथ ही सीधे-सीधे पाठक के साथ संप्रेषण की जो क्षमता है वो अद्भुत है। राजनीतिक विषय वस्तु पर लिखी गई रचनाएं समग्रता में कवि के मंतव्य को संप्रेषित करती हैं। आपात्काल का विरोध करते हुए कवि ने "चन्द आलमशाह" "हमारे बंधु," आदि कविताओं के द्वारा शासक वर्ग के लुटेरे चरित्र का पर्दाफाश किया है। वहीं "मुखबिर हवाएं" आपात्कालीन आतंक की स्थिति का दस्तावेज है।

आपात्काल में शासक वर्ग ने अपनी सुरक्षा के लिए न्यायपालिका को कार्यपालिका के मातहत करके जिस तरह पंगु बना दिया था उस पर कवि कहता है --"सात कोस की खाक छान कर। आये तेरी कोट कचहरी। हमको क्या मालूम यहां की। हर मूरत है गूंगी बहरी।"[21]

आपात्काल में जिस तरह से चारों ओर दमन व आतंक का दौर चल रहा था उस समय चारों ओर से यही आवाज आ रही थी कि "राम बचाये, राम बचाये, ऐसे हिन्दुस्तान से ।"[22] आपात्काल से मुक्ति के लिए जो संघर्ष चलाया जा रहा था उसे "दूसरी लड़ाई" के नाम से जाना गया । लेकिन वो ही रचनाकार सही परिप्रेक्ष्य के साथ इस लड़ाई का मूल्यांकन कर पा रहे थे जो वस्तुगत रूप से हालातों का जायजा लेते हुए जनता की अदम्य ताकत में आस्था रखते थे । यह संभव है कि अधिनायकवाद के दौर में कुछ समय तक जनता की आवाज को, उसकी आकांक्षाओं को दमन के जरिये दबाने में सत्ता सफल हो जाय । लेकिन दीर्घ काल तक के लिए जनता की आवाज को बन्द करना उसकी आकांक्षाओं को कुचलते रहना , संभव नहीं है । यही वजह है कि आपात काल के कुछ समय बाद से ही जनता ने जगह-जगह उसका विरोध करना शुरू कर दिया था । जिसकी अभिव्यक्ति कविता में इस रूप में हुई " हार-हार लहरें फिर बुन रही हैं... । और किनारे अब लातार कंप रहे हैं ।"[23]

यह अधिनायकवाद की तार्किक परिणति है कि शासनतंत्र पर कुछ गैर संवैधानिक व्यक्तियों की गिरफ्त मजबूत हो जाती है और ये वो लोग होते हैं जो सबसे ज्यादा भ्रष्ट होते हैं । यही स्थिति आपात्कालीन हिन्दुस्तान में भी उभरकर सामने आती है, जब संवैधानिक सत्ता केन्द्र के तौर पर "संजय गांधी" का उद्भव होता है और सारी सत्ता उसी के इर्द-गिर्द एकत्रित हो जाती है । ऐसे हालात का सबसे बेहतरीन काव्य रूप देखें ---

"जैसा कि जरूरी हुआ करता है । प्रतिभाशाली शहजादे ने । कान्फ्रेंसें दीं, दौरे किये । कवायदें देखीं, मुआयने किये । जांचें कीं, तबादले डाले । मुअत्तलियां पिलाईं । तत्पश्चात् बजीरों को तलब कर डाला ।"[24] इसके अतिरिक्त मनमोहन की ही "आ राजा का बाजा बजा" सबसे बेहतरीन रचना मानी जा सकती है । चूंकि यह दौर मानवीय तत्वों की रक्षा का दौर था । अत: रचनाकारों की काफी तादाद इस संघर्ष में सामने आती है, जिन प्रमुख रचनाकारों ने आपात्काल में "प्रतिरोधी रचनाएं लिखकर अपना काव्य सृजन सार्थक किया था उनमें सर्वश्री शील,

कांतिमोहन, ज्ञानेन्द्रपति, वेणुगोपाल, विजेन्द्र अनिल, कुमार विकल , राजेश जोशी, पंचदेव, सुधीर सक्सेना आदि के नाम उल्लेखनीय है । पुराने पीढ़ी के प्रमुख संघर्षरत रचनाधर्मी होने के नाते पूरे ओज व काव्य सौन्दर्य के साथ बाबा नागार्जुन ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया ।

बाबा नागार्जुन एक मात्र ऐसे हिन्दी साहित्य के रचनाकार हैं जिन्होंने सन् 1972 में ही अधिनायकवादी राजनीति के आगमन की घोषणा कर दी थी । उस समय श्री नागार्जुन ने "अब तो बंद करो हे देवि यह चुनाव का प्रहसन ।"[25] नामक ऐतिहासिक रचना लिखी थी । इस ऐतिहासिक कविता में आने वाले दिनों के बारे में कवि कहता है कि "श्लोकों में गूंजेंगे अबकी फौजी अध्यादेश "[26]

इस दौर में तानाशाही की ओर शासन के बढ़ते हुए रुझान को पहचानते हुए कवि ने लिखा था -- " तानाशाही रंगमंच पर प्रजातंत्र का परिणय । देखरहा हूं हिंसा का ही मैं असत्य से परिणय ।"[27] बाबा नागार्जुन के यहां आम फहम प्रतीकों तथा नामों का सटीक प्रयोग तात्कालिक राजनीतिक कर्मों को उजागर करने में सबसे ज्यादा सशक्त रूप में दिखाई देता है जिसके कारण नागार्जुन "जाने तुम कैसी डायन हो " के साथ-साथ आपात्कालीन समय की शासकीय हरकतों को उजागर करने में सफल हो जाते हैं वहीं पर दूसरी ओर " सूरज सहम कर उगेगा " के तहत आपात्कालीन आतंक की विकरालता की ओर ध्यान खींचते हुए लिखते हैं " लगता है । हिन्द के आसमान में । सूरज पर भी लागू होंगे । आपात्कालीन स्थिति वाले आर्डिनेंस " ।[28]

आपात्काल में संविधान में मनमाने ढंग से जो परिवर्तन किये जा रहे थे, उनका सभी विपक्षी दलों की ओर से मुखर विरोध हो रहा था । इन परिवर्तनों की मंशा यह थी कि अधिनायकवाद को स्थायी रूप से हिन्दुस्तान में जमा दिया जाय । बाबा नागार्जुन ने इसका वर्णन करते हुए "यह बदरंग पहाड़ी गुफा सरीखा" नामक कविता लिखी तथा शासन तंत्र का सही रूप रेखांकित करते हुए लिखा कि "संविधान का पोथा । देखो । पूरा का पूरा ही कैसे लील रही है ।" यह चुड़ैल ।"[29]

साथ ही कवि का यह भी मानना था कि शासन " महा कुबेरों की रखैल है ।"[30] सामाजिक विकास की प्रगतिशील ताकतों के साथ एकजुटता तथा सर्वहारा के विश्व दृष्टि कोण के करीब नागार्जुन के विश्व दृष्टिकोण का होना ही यह घोषणा करने में सफल रहा था कि ---

"नये महा प्रभुओं द्वारा लादी गई तानाशाही । जरूर ही पंक्चर होगी । तार-तार होगी जरूर ही । जनवाद का सूरज डूब नहीं जायेगा । गहन नहीं लगा रहेगा । हमेशा अभिनव फासिज्म का ।"[31] आपात्काल में शासक वर्ग की तरफ से जिस नग्न नृत्य का तांडव किया गया था उसको रेखांकित करते हुए कवि ने "नंगे तरु हैं नंगी डालें" शीर्षक कविता लिखी ।

"आपात्काल में इलाहाबाद जेल में शासक वर्ग के द्वारा दबाव डाले जाने तथा उसकी नुमाइंदगी में रत रचनाकारों के फुसलाए जाने पर नागार्जुन ने "खिचड़ी विप्लव देखा हमने" नामक कविता के साथ एक वक्तव्य विहार आंदोलन के खिलाफ दिया जो कि उन्हीं दिनों के समाचार पत्रों में छपा भी था जिसकी तमाम हल्कों में तीखी आलोचना भी हुई तथा नागार्जुन ने भी बाद में यह महसूस किया कि उनसे गलती हो गयी है । इसीलिए उन्होंने अपने को सही दिशा की ओर पुनः ठेल दिया और कहा कि " जन कवि हूं, क्यों चाटूंगा मैं थूक तुम्हारी । श्रमिकों पर क्यों चलने दूं बन्दूक तुम्हारी ।"[32] इसी दौर में अपनी गलती का प्रायश्चित करते हुए कवि ने "रहा उनके बीच मैं" नामक कविता लिखी । शासक वर्ग वामपंथी शब्दों में आपात्काल का वर्णन कर रहा था । उसको ध्यान में रखते हुए "जरासन्ध" नामक कविता नागार्जुन ने लिखी थी । इस कविता में शासकीय वामपंथ को उजागर करते हुए कवि कहता है ---

"तेवर तो हैं कुदम-वाम के । दक्षिणपंथी भोग-भाग की विकट गंध है । पतन और विच्युति विभ्रम का जरासन्ध है ।"[33] आपात्काल में कहीं पर कोई कवि शासन के खिलाफ कोई भी रचना सुनाता था तो उसे जबर्दस्त समर्थन व उत्साह जनित मान का दिग्दर्शन जनता में हो जाता था । साथ ही साथ जनता

यह भी सोचती थी कि बेचारे 'सदाशय' बन्धु सही सलामत वापस तो जाएं।'[34] यानि कि शासन के विरोध की रचना सुनाने के बाद किसी भी कवि का जीवन सुरक्षित नहीं रह जाता था। इस तरह के माहौल में जनता के संघर्षों, संवेदनाओं को वाणी देना, निश्चित रूप से बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य था। बाबा नागार्जुन ने इस दायित्व का निर्वाह बड़ी ही खूबी के साथ किया है। आपात्कालीन दौर में जेलों में दी जाने वाली यंत्रणाओं का वर्णन करतेहुए बाबा नागार्जुन ने तीन महत्वपूर्ण रचनाएं 'सिके हुए दो भुट्टे', 'बन्धु डा० जगन्नाथन' तथा 'नेवला' नामक शीर्षक के तहत लिखी। हिन्दुस्तानी जेलों में किस तरह राजनीतिक कार्यकर्ता जीवित रहने की कोशिश करते हैं, इसका वर्णन 'सिके हुए दो भुट्टे' में किया गया है तथा खेतिहर मज़दूरों तथा मेहनतकश इंसान की जेलों में दुर्दशापूर्ण जिन्दगी तथा आपात्कालीन अनिश्चयता का जिक्र करते हुए 'बंधु डा० जगन्नाथन,' में कवि कहता है -- 'कोई जरूरी नहीं है कि। आपको निकट भविष्य या दूर भविष्य में। फिर किसी सेन्ट्रल जेल की गुफा में बन्द होना ही पड़े।'[35] तथा 'कौन सी दशा। कौन सी स्थिति या दुःस्थिति। आपका इंतजार कर रही है। कोई नहीं जानता'।[36] इन दोनों कविताओं की कड़ी में ही अगर 'नेवला' कविता को रखकर विश्लेषित करें तो संपूर्ण भारतीय-जेल जनमत की अमानवीयता तथा स्काकी जीवन, के दर्शन सहज में ही हो जायेंगे। इसी कड़ी को आगे बढ़ायें तो 'मुर्गे ने दी बांग' तथा 'जी हां, यह सबकी चहेती है' पायेंगे। आपात्काल में जो लोग सुख-शांति तथा देश की उन्नति के स्वप्न बुन रहे थे वहीं पर नागार्जुन 'पसन्द आएगा तुम्हें ऐसा सुदीर्घ जीवन' लिखकर इस दौर की चेतना-हीन कर देने वाली बर्बरता को पहचान रहे थे, तथा कह रहे थे --' आवेगहीन। उत्तापशून्य। क्रिया-प्रतिक्रिया विरहित। क्रोध-अमर्ष-ईर्ष्या- असूया से दूर, बहुत दूर। पर्त-दर-पर्त बेहोशी में लिपटा हुआ। पसन्द आएगा तुम्हें ऐसा सुदीर्घ जीवन ?'[37]

आपात्काल में शासन ने यह प्रचार बहुत जोर-शोर से किया था कि हमारे देश की परम्पराएं महान हैं, कुछ लोग मिलकर उन्हें छीनना चाहते हैं, उन तमाम महज

महान् परंपराओं को मिट्टी में मिला देना चाहते हैं, लेकिन कवि इसके विपरीत सोचता है, और कहता है कि अगर हमारी परंपराएं महान् थीं- " तो अब तुम भीख क्यों मांगते हो ? क्यों तुमने कोटि-कोटि जनों को "अछूत " बना रखा है ? एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण को अपने चौके में क्यों घुसने नहीं देता ? भंगी क्यों नहीं डोम का छुआ पानी कि पीती है ? पूर्वजों के पुण्य का तुम्हारा जादू कहां चला गया ? "[38] आपात्काल में जिस तरह से दमन-आतंक तथा दहशत का दौर आया था उसने जीवन में बेहोशी , खौफ तथा घुटन को भर दिया था । लेकिन यह प्रवृत्तियां हमेशा रहेंगी । ऐसा कवि का मानना नहीं था । कवि का मानना था कि ---

"यों ही गुज़रेंगे हमेशा नहीं दिन । बेहोशी में , खौफ में, घुटन में, ऊबों में । आएंगी वापस जरूर हरियालियां । घिसी-पिटी फूलती हुई दूबों में ।"[39] आपात्कालीन नये शासकों पर व्यंग्य प्रहार करते हुए नागार्जुन ने "हर्द-गिर्द संजय के, मैले जुड़ा करेंगे " तथा "नये-नये दिल हैं " शीर्षक कविताएं लिखकर नये शासकों के "हिटलरी पूतों " का रूपायन किया । वहीं पर जनता से कवि कहता है "देखना । दुष्टों को दाभा नहीं करना । देखना । शैतान निकलने न पाए बेदाग । देखना । बुझने नहीं पाए जन-मन की आग । देखना ।"[40] सत्ता की मदहोशी में मग्न रचनाकारों पर प्रहार करते हुए कवि ने "थकित-चकित - भ्रमित -मग्न मन " नामक कविता लिखते हुए, अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा था -- "तो क्या मुझे भी बुढ़ापे में "पुष्टई " के लिए । वापस नहीं जाना है किसी मठ के अन्दर ?"[41] इस दौर की रचनाधर्मिता - विशेषरूप से - उन रचनाकारों पर व्यंग्य करते हुए कवि ने लिखा था । जो वे पेंदी के लोटे की तरह इधर से उधर लुढ़कते रहते थे तथा "जिधर देखी थार परात उधर गुजारी सारी रात " की धारणा में विश्वास करते थे जो इसी प्रवृत्ति के कारण आपात्काल तक के समर्थन तक चले गए थे । ऐसे कवियों को रेखांकित करते हुए नागार्जुन ने "धोखे में डाल सकते हैं " शीर्षक कविता लिखी थी ।

नागार्जुन का मानना था कि ऐसे कवि किसी का भी गुणगान कर सकते हैं,

किसी को भी धोखे में डाल सकते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि आपात्काल में नागार्जुन की कविताओं में हिन्दुस्तानी जीवन का बृहत्तम रूप अभिव्यक्ति पाता है और इसके लिए कवि ने बेहतरीन ढंग से प्रचलित नामों, प्रतीकों, बिम्बों तथा कथानायकों का बड़े ही कौशल के साथ उपयोग किया है । चूंकि आपात्काल की मार से जन-जीवन का जरां-जरां प्रभावित हुआ था । इसीलिए जन से प्रतिबद्ध होने के कारण नागार्जुन के यहां संपूर्ण आपात्काल के दबावों, प्रभावों उसके प्रतिरोधों के रूप दिखाई देते हैं । इस दौर में घटे रहे बाकयों का साक्षी होने के साथ-साथ नागार्जुन 'जन ' के संघर्ष से अपनी एकजुटता का भी इज़हार करते हैं । उसे संस्कार व सोच के स्तर पर परिष्कृत चेतना के स्तर के करीब तक ले जाने के लिए संघर्ष भी करते हैं । इसीलिए तो कवि कहता है कि : ---

'प्रतिबद्ध हूं, जी हां, प्रतिबद्ध हूं -
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित -
संकुचित 'स्व ' की आपाधापी के निषेधार्थ ----
अविवेकी भीड़ की 'भेड़िया-धसान ' के खिलाफ----
अन्ध-बधिर 'व्यक्तियों ' को सही राह बतलाने के लिए ---
अपने आप को भी 'व्यामोह ' से बारंबार उबारने की खातिर --
प्रतिबद्ध हूं, जी हां, शतधा प्रतिबद्ध हूं ।' [42]

---00000---

तृतीय अध्याय की पाद टिप्पणियां

1. शब्द और कर्म : डा० मैनेजर पाण्डेय : पृ०-74
2. पहल : सं० ज्ञानरंजन : अंक पांच : पृष्ठ- 101
3. उपरोक्त -
4. शब्द और कर्म : डा० मैनेजर पाण्डेय : पृष्ठ- 74
5. सरिता (महँ) द्वितीय 1976 के सरित प्रवाह से साभार ।
6. स्वाधीनता (हिन्दी साप्ताहिक) सं० अयोध्यासिंह - 28 फरवरी 1976 से साभार ।
7. शब्द और कर्म - डा० मैनेजर पाण्डेय : पृष्ठ- 72
8. जंगल का दर्द : श्री सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृष्ठ- 9
9. उपरोक्त - पृष्ठ- 15
10. ,, पृष्ठ- 27
11. ,, पृष्ठ- 19
12. ,, पृष्ठ- 51
13. बाहर-भीतर : श्री गिरधर राठी - पृष्ठ- 7
14. ,, ,, पृष्ठ- 20
15. ,, ,, पृष्ठ- 21
16. ,, ,, पृष्ठ- 12
17. ,, ,, पृष्ठ- 13
18. 'महावृक्ष के नीचे' : श्री अज्ञेय : पृष्ठ- 37
19. उपरोक्त : पृष्ठ- 37
20. ,, पृष्ठ- 42-43
21. इतिहास दुबारा लिखो - श्री रमेशचंद्र : पृष्ठ- 20
22. ,, ,, पृष्ठ-43
23. उत्तरार्द्ध : 11 अंक : मनमोहन की कविता : पृष्ठ- 65
24. उत्तरार्द्ध (12 अंक) मनमोहन की कविता - पृष्ठ- 52

25. तुमने कहा था : नागार्जुन : पृष्ठ- 48
26. ,, ,, पृष्ठ- 50
27. ,, ,, पृष्ठ- 51
28. खिचड़ी विप्लव देखा हमने - नागार्जुन : पृष्ठ- 27
29. ,, ,, पृष्ठ- 28
30. उपरोक्त : पृष्ठ- 28
31. उपरोक्त : पृष्ठ- 69
32. ,, पृष्ठ- 83
33. ,, पृष्ठ- 104
34. ,, पृष्ठ- 105
35. ,, पृष्ठ- 41
36. ,, पृष्ठ- 41
37. ,, पृष्ठ- 56
38. ,, पृष्ठ- 71
39. ,, पृष्ठ- 79
40. ,, पृष्ठ- 97-98
41. ,, पृष्ठ- 106
42. ,, पृष्ठ- 57

चौथा अध्याय

नागार्जुन की काव्य रचना यात्रा

नागार्जुन की काव्य रचना यात्रा

बाबा नागार्जुन की रचना यात्रा की मुख्य धाराओं का विश्लेषण करने का मतलब है हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई के दौर से लेकर आज तक जनवाद के विकास व हिफाजत के लिए चले वाले तमाम राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय घटना चक्रों में से होकर गुजरना यह काव्य यात्रा जितनी व्यापक तथा विविधतापूर्ण है उतनी रोचक तथा इतिहासपरक भी । एक सामान्य किसान परिवार में जन्मे बाबा का पूरा का पूरा सांस्कारिक परिवेश संस्कृत तथा परम्परागत रूढ़िवादी संस्कारों के द्वारा निर्मित किया गया था । बाबा के चिन्तन में आज भी सहज किसान के मनोभाव दृगोचर हो जायेंगे । जिस तरह हिन्दुस्तान की जनता ने अपने स्वाधीनता संघर्ष, साम्राज्यवाद विरोधी चेतना को मुक्ति के युद्धों के पक्ष में मोड़ा । उसी तरह जनता के प्रति वचनबद्ध बाबा नागार्जुन ने भी उस संघर्षशील साम्राज्यवाद विरोधी चेतना से अपनी एकजुटता दिखाई । आजादी के बाद देशी शासकों के जन विरोधी चेहरे की नागार्जुन ने अपनी काव्य यात्रा में तीखी व बेबाक खबर ली है । बाबा का रचनाकार जनता की अदम्य शक्ति में गहरा विश्वास ही नहीं करता अपितु उसके रोजमर्रा के संघर्षों में सक्रिय हिस्सेदारी भी निभाता है । इसीलिए --

"नागार्जुन देश की साधारण जनता की प्रगतिकामी ऊर्जस्वित और प्राणमयी चेतना से पूरी तरह स्कात्म करने वाले उसके प्रतिनिधि रचनाकार है ।"[1]

कुछ आलोचकों ने नागार्जुन की कविताओं को देखकर, उनपर राजनीतिक नारेबाजी की कविता का "लेबिल" लगाया है, ऐसे आलोचक एक बात भूल जाते हैं कि आजादी के पूर्व व बाद में एक भी कविता ऐसी नहीं मिलेगी जिसकी अपनी राजनीतिक विचारधारा न हो । यहीं पर यह प्रश्न उठता है कि क्या कविता और राजनीति में कोई संबंध भी है या नहीं ? अगर है भी तो उसका रूप क्या है ?

कविता और राजनीति के संबंध पर कविता के क्षेत्र में चली आ रही बहस सन् 1970 - 71 तक आते-आते इस निष्कर्ष पर पहुंची थी कि कविता तथा राजनीति में अन्तर्संबंध होता है, यह बात समस्त रचनाकारों ने स्वीकार कर ली थी । फर्क सिर्फ उस संबंध के रूप तथा मात्रा को लेकर रह गया था ।

दरअसल में कला या साहित्य सृजन में रत रचनाकार सामाजिक विषय को ही कथ्य के लिए चुनता है, समाज से ही अपने विषयों का चयन करता है किसी भी कला या साहित्य या कविता की जो अन्तर्वस्तु होती है वह इस ऐतिहासिक सामाजिक शक्ति से ही अपने विषयों का चयन करती है । किसी भी कला या साहित्य या कविता की जो अन्तर्वस्तु होती है, वह इस ऐतिहासिक सामाजिक शक्ति से अपने संबंध को व्यक्त करती है । वह एक जीवित , सक्रिय मानव चरित्र या उसके सामाजिक संबंधों की आलोचना होती है और इस प्रकार वह कुछ सामाजिक अर्थ रखने वाले मूल्यों की स्थापना करती है, जो या तो व्यवस्था के पक्ष में होते हैं या विपक्ष में । इस तरह कविता व्यापक मानवीय मूल्यों के धरातल पर और इसीलिए राजनैतिक संघर्ष के लिए भी एक खास भूमिका निभाती है ।

अगर कविता और राजनीति के संबंधों का ऐतिहासिक अन्वेषण किया जाय तो एक बात काफी साफ दिखाई देती है । वह यह कि प्राक् औद्योगिक समाज में कविता राजनीति प्रेरित होती है, इसका मुख्य कारण प्राक् औद्योगिक समाज में राजनीति की विस्तृत होती हुई परिधि का फर्क है । आज आदमी मूलत: एक राजनीतिक आदमी बन चुका है, उसके संबंध विश्व स्तर पर कायम हो चुके हैं, कायम होते जा रहे हैं और अनेक राष्ट्रीय और स्थानीय साहित्यों से मिलकर एक विश्व -साहित्य उत्पन्न हो रहा है ।

तथा हर राष्ट्रीय एवं स्थानीय कविता का अर्थ इस विश्व साहित्य की गति और दिशा के सन्दर्भ में है, और इस ऐतिहासिक बिन्दु पर आकर अगर कोई व्यक्ति कविता और राजनीति को पृथक् करना चाहे तो उसे पहले अपना गरेबां टटोल लेना चाहिए ।

"इस अर्थ में वह तमाम साहित्य जो बहुसंख्यक जनता की आशाओं, आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देता है, उसकी शोषण के खिलाफ एकजुटता को मजबूत बनाता है, उसमें संघर्षशील भाव जगाता हो, शोषण को नंगा करता हो, जनवादी साहित्य कहलायेगा । इस साहित्य का स्रोत जन-जीवन ही होगा ।"[2]

जनवादी चरित्र की यह व्याख्या पूरी तरह से नागार्जुन पर घटावें तो पायेंगे कि जनवादी रचनाशीलता के समस्त तत्व बाबा की रचना में मौजूद हैं । कविता के क्षेत्र में एक ही कवि में जनता के विविध आयामी संघर्षों, बहु आयामी कार्यकलापों, जीवन-व्यवहारों का समावेश मिलना कठिन है, लेकिन बाबा की रचनाओं में ये समस्त तत्व अपनी पूरी क्षमताओं तथा प्रभाव के साथ परिलक्षित होते हैं ।

जैसा कि शुरू में बताया गया था कि बाबा की काव्य रचना यात्रा इतिहास का दस्तावेज होने के साथ-साथ जनमुक्ति संघर्षों की अभिव्यक्ति है । द्वितीय विश्व युद्ध के बाद दुनिया के तमाम मुल्कों में आजादी के लिए चलने वाले मुक्ति संघर्षों में तेजी आती है जिसके चलते साम्राज्यवादी बर्बर दमन व लूट भी तेजी से सामने आती है । बाबा औपनिवेशिक शासन के विरोध में मुक्तिकामी ताकतों के प्रति अपनी एकजुटता दर्शाते हुए लिखते हैं :---

"ढाहो औपनिवेशिक कारा की दीवारों के घेरे को
श्वेत और अश्वेत को श्रमिक जन-साधारण को एक करो है ।"[3]

अमेरिकी साम्राज्यवाद ने बर्बरता व हिंसा के बलबूते पर जिस प्रकार वियतनाम को नेस्तनाबूद करने की जी तोड़ कोशिशें की, उसकी मिसाल मिलना कठिन है । इसके विरोध में बाबा ने "सुलग रहा वियतनाम" नामक कविता लिखी तथा बहादुर वियतनामी जनता के प्रति अपनी एकजुटता का इज़हार करते हुए लिखा था :---

"शाबाश वियतकांग के तरुण छापेमार
गोरे-गोरे दनुजों का करो तुम संहार
फाड़ दो बाजों के चोंच और नाखून
चीखें यू-स्म०आ० में सौ सौ अफलातून ।।[4]

साम्राज्यवाद विरोध में लिखी गयी रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ काव्य रचना के तौर पर "महा प्रभु जान्सन (ख)" नामक कविता को लिया जा सकता है । इस कविता में बड़े ही प्रतीकात्मक ढंग से अमेरिकी साम्राज्यवाद के मानवता विरोधी युद्धोन्मुखी चरित्र को रेखांकित किया गया है । घृणा हिंसा, दासता की नीति के ये दनुज भेड़िये द० अफ्रीका, वियतनाम में महानाश को किस तरह आमंत्रण दे रहे थे । इससे क्षुब्ध होकर कवि "देवि लिबर्टी" से कहता है "निज तरुणों की ही कलेजियां चबा रही हो वियतनाम में ।" बाबा नागार्जुन ने अफ्रीकी जनता के महान् नेता पैट्रिश लुलुम्बा को "काली धरती का अग्नेयकोण" कहा था, तथा अमेरिकी राष्ट्रपति को "गरीबी-भुखमरी-युद्ध और विनाश" का सृजनकर्ता कहा था --"भूख महामारी है, मरघट मसान।गोलियों की फसलें, मौत का खलिहान । घर-घर मांगते हैं वोट गहनदान । सूखी पड़ी धरती, फीका आसमान । दया करें, द्रवित हों, अमरीकी सुजान । मिलने नहीं पाये धूल में यह शान । धन्य-धन्य जानसन, श्रीमानों के श्रीमान् ।"[5]

युद्ध के विरोध में लिखी अन्य महत्वपूर्ण रचनाओं में सन् 48 की "एटमबम" सन् 49 की "धरती" और "जयति जयति जय सर्व मंगला" तथा सन् 57 की "कैसा लगेगा तुम्हें ?" शीर्षक कविताएं हैं ।

बाबा नागार्जुन ने जहां एक ओर बर्बर अमेरिकी साम्राज्यवाद तथा दूसरे साम्राज्यी मुल्कों का मुखर विरोध किया , वहीं पर समाजवादी विश्व के निर्माता नेताओं , कलाकारों को अपनी रचनाएं समर्पित करके सर्वहारा के पक्ष में अपनी संघर्षशील सचेत एकजुटता का भी इजहार किया । बाबा का

मानना है कि लेनिन ने जो मुक्ति का मार्ग विश्व की जनता को 1917 में रूस में क्रान्ति करके दिखाया था वो सारे दु:खों से मानव जाति को मुक्ति दिला सकता है और यही वो मूल चीज है जो बार-बार लेनिन की याद को कवि के मन में ताजा कर देती है -- कवि के ही शब्दों में ---

'अफ्रीका, एशिया, लातीन अमेरिका... । जाने कहां-कहां । बिकल है कोटि-कोटि प्राण । कसमसा रहे हैं हाथ पैर लहूलुहान । कब होगी खत्म गुलामी की काल रात्रि ? कब होगा अन्त ? विश्व भर में फैले खंड-खंड नरकों का । ऐसे में हमें तो बस याद आता है तुम्हारा नाम ।'[6]

सर्वहारा के प्रति प्रतिबद्धता को घोषित करते हुए नागार्जुन ने सन् 1949 में ही 'वह कौन था ?' शीर्षक कविता में सर्वहारा क्रांति की परिकल्पना प्रस्तुत की थी ।

हिन्दुस्तान की आजादी के बाद शासक वर्ग के प्रति एक आकर्षण, मोह, आकांक्षा का जो भाव जनता के बीच पैदा हुआ था वो आजादी के बाद कुछ ही वर्षों में खंडित हो गया । चारों ओर तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष में भाग लेने वालों की सरकार ने जमकर खबर ली, तथा जनजीवन के व्यापकतम तबकों में सन् 60 से मोहभंग की शुरुआत भी हो चुकी थी । बाबा नागार्जुन के मन में आजाद हिन्दुस्तान के शासक वर्ग को लेकर कोई भ्रम नहीं था, इस सन्दर्भ में 'सच न बोलना', 'लाल भवानी तथा 'साथी भारद्वाज' रचनायें महत्वपूर्ण हैं । तेलंगाना के संग्राम में भाग लेने वालों पर जो जुल्मों-सितम किया गया वह कवि के ही शब्दों में :---

'माताओं पर, बहनों पर, घोड़े दौड़ाए जाते हैं,
बच्चे, बूढ़े-बाप तक न छूटते, सताए जाते हैं ।
मार-पीट है, लूटपाट है तहस नहस बरबादी है
जोर-जुल्म है, जेल-सेल है --------- वाह खूब आजादी है ।'[7]

नागार्जुन की कविता का प्रधान स्वर व्यंग्य का है जिसके माध्यम से सामाजिक-राजनीतिक आर्थिक सभी सवालों पर बड़े ही तीखें तथा सटीक प्रहार करने में सफल रहे हैं । व्यंग्य की इस पद्धति को विशेष रूप से कविता के क्षेत्र में अपनाकर बाबा नागार्जुन ने अपने को 'कबीर' की उस ऐतिहासिक परम्परा के साथ जोड़ दिया है जिसमें तमाम किस्म की प्रवृत्तियों का व्यंग्य के ही माध्यम से विरोध किया गया है । यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि हिन्दी साहित्य में व्यंग्य का जितना बड़ा चितेरा कबीर हुआ था वैसा दूसरा कोई नाम साहित्य जगत में अगर कोई नजर आवेगा तो बाबा नागार्जुन का ।

हिन्दुस्तान के विकास के नाम पर जिस 'पंचवर्षीय योजना' का शासक वर्ग ने काफी ढोल पीटा था । उसको नागार्जुन ने 'हिडिंबा की हिचकी' तथा 'सुरसा की जंभाई' कहा था । तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की अमेरिकी परस्त नीति पर व्यंग्य करते हुए कवि ने कहा ----

'बताऊं ?
कैसी लगती है
नेहरू की विदेशी वाणिज्य भक्ति ?
धीरोदात्त नायक की सुदुर्लभ परकीया रसाई ।'[8]

आजादी के बाद की हिन्दी कविता पर विशेष रूप से नेहरू की महिमा मंडित छवि का प्रभाव देखा जा सकता है । इस प्रभा मंडल से हिन्दी साहित्य के अधिकांश कवि प्रभावित थे, लेकिन बाबा नागार्जुन उन चंद रचनाकारों में से एक हैं जो साफ-साफ कहते हैं --'फूठ-मूठ सुजला-सुफला के गीत न हम अब गायेंगे । भात-दाल - तरकारी जब तक नहीं पेट भर पायेंगे । सड़ी लाश हैं जमींदारियां, इनको हम दफनायेंगे ।'[9] आजादी पर व्यंग्य कसते हुए कवि कहता है 'कागज की आजादी मिलती ले लो दो-दो आने में ।'[10] आजादी के पूर्व के भारत में तथा बाद के शासकवर्ग के चरित्र में नागार्जुन कोई फर्क नहीं पाते हैं जिसकी वजह से बाबा

के व्यंग्य की धार और भी पैनापन लिए दिखाई देती है :---

"पुलिस और पल्टन के हाथी कितना चारा खाते हैं
वही रंग है, वही ढंग है, फ़रक नहीं कुछ पाते हैं ।
ऊपर वाले बैठे-बैठे खाली बात बनाते हैं
बाढ़ अकाल महामारी में काम नहीं कुछ आते हैं
देशभक्ति की सनद मिल रही आए दिन शैतानों को ।।"[11]

श्री नेहरू की मृत्यु पर जहां सारा राष्ट्र अनाथ सा अनुभव कर रहा था । वहीं पर नागार्जुन का मानना था कि "फुकुती स्वराज्य की डाल और "तुम रह जाते दस साल और । होता सबका ही तेज हरण नब्बे प्रतिशत का दस प्रतिशत खुलकर करते तकदीर हरण ।"[12] हिन्दुस्तान के शासक वर्ग ने गांधीवाद के नाम पर "कल्याणकारी " राज्य चलाया । उस पर चोट करते हुए । कवि ने "तीनों बंदर बापू के " नामक कविता में कहा कि :---

"मैं नाम तुम्हारा बेचूंगा
मारुंगा तुमको रोज़ रोज़
बापू जो तुमको अप्रिय थे
वह काम करुंगा खोज-खोज ।"[13]

कहने का तात्पर्य यह है कि "गांधीवाद " के नाम से गांधी की आशाओं, विश्वासों के विपरीत शासक वर्ग के लोगों ने प्रतिदिन आचरण किया । नागार्जुन की इस व्यंग्य शैली के पीछे सर्वहारा वर्ग की दृष्टि शोषित - पीड़ित मानवता के प्रति प्रतिबद्ध दृष्टि निरन्तर सक्रिय रूप से कार्य करती रही है जैसा कि डा० नामवर सिंह ने सही विश्लेषित किया है कि " नागार्जुन के ये व्यंग्य भारतीय जनता की प्रखर राजनीतिक चेतना के साथ ही, उसके सहज बोध और जिन्दादिली के भी अचूक प्रमाण हैं ।"

आजादी की रजत जयन्ती पर जहां प्रगति और खुशहाली के गीत गाए जा रहे थे, जनता को भ्रमित करके 'शून्य लोक' में ले जाने के लिए पूरा का पूरा प्रचार तंत्र जुटा हुआ था। बाबा नागार्जुन इस पूरे छद्म वेश धारी रजत जयन्ती पर्व की बेला पर तीखा व्यंग्य करते हुए लिखते हैं ---

'नीचे निपट गरीबी, ऊपर ठाट-बाट की रजत जयन्ती
शर्म न आती, मना रहे वे मंहगाई की रजत जयन्ती।'[14]

सन् 1972 के आते-आते कवि को संसदीय जनतंत्र के नाम पर चल रहे पाखण्ड की तीखी आलोचना करते हुए कहना पड़ा कि 'अब तो बंद करो हे देवि यह चुनाव का प्रहसन'[15] यहीं पर मानवीय जीवन मूल्यों, जनतांत्रिक मान्यताओं पर आने वाले भावी खतरे को जन कवि देख रहा था और कह रहा था कि 'श्लोकों में गूंजेंगे अबकी फौजी अध्यादेश।'[16] चुनाव का, किस तरह मखौल बनाया गया। इस पर व्यंग्य कसते हुए कवि कहता है :---

'नोटों की गड्डियों-लाठियों-बन्दूकों की जय हो
बोगस मत पत्रों से बोझिल संदूकों की जय हो।'[17]

इन सब तानाशाही पूर्ण रुझानों के खिलाफ जनता के संघर्षों में बढ़ती हुई कतारबंदी तथा जनता की अदम्य ताकत में विश्वास के चलते बाबा की यह भविष्यवाणी जो उन्होंने सन् 72 में ही की थी सच साबित हुई कि आने वाले दिनों में छात्र समुदाय मुखर विरोधी शक्ति के रूप में तानाशाही विरोधी कतार में शामिल होगा -- कवि के ही शब्दों में :---

'अभी और विप्लव होंगे और बहेगा खून
तरुण शक्ति तोड़ेगी सौ-सौ नियम और कानून'
महाक्रान्ति के प्रबल वन्हि में शोधित होगी सत्ता
अरुणाई में दमक उठेंगे ढाका और कलकत्ता।।'[18]

और सन् 1974 में गुजरात और बिहार में छात्रों के व्यापकतम तबके ने शासकवर्ग की जनविरोधी नीतियों, दमन, उत्पीड़न के विरोध में अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया । नागार्जुन की इन तात्कालिक राजनीतिक घटनाओं, बर्बर अत्याचारों, हत्याकांडों पर लिखी रचनाओं को कुछ आलोचक राजनैतिक प्रोपेगैण्डा तथा असाहित्यिक, अकलात्मक रचना कर्म मानते हैं । ऐसे आलोचक के लिए श्री विजय बहादुर सिंह का यह मूल्यांकन सही जवाब है ---

"अगर ये कविताएं न लिखी गई होती तो हम इस सवाल का ठीक जवाब भी शायद न दे पाते कि हमारी हिन्दी कविता राजनीति, बौद्धिकता और आम जनता के बीच कौन-सा रिश्ता कायम रखना चाहती है ।"[19]

दरअसल में तात्कालिक सवालों पर कविता लिखना, वो भी राजनीतिक सवालों पर सबसे जटिल और खतरनाक रचना कर्म है, प्रत्येक कवि के बस का यह कार्य नहीं है । बाबा ने यह कार्य पूरे साहस व सहज सम्प्रेषणीयता के साथ किया है । इसीलिए डा० केदारनाथ सिंह के शब्दों में ---

"आलोचना के प्रचलित मान-मूल्यों और समय के पूरे सौन्दर्यबोध को सबसे ज्यादा यही कविताएं फक्कड़ होती हैं ।"[20]

सन् 74 का वर्ष हिन्दुस्तान के लिए निश्चित रूप से जनान्दोलनों का वर्ष है और जनकवि नागार्जुन इन जनसंघर्षों के प्रति अपनी सक्रिय भागीदारी रचना व कर्म दोनों स्तरों पर समर्पित करते हैं तथा सहज बोधगम्यता के लिए उन सभी व्यक्तियों तथा चरित्रों के नामों का कविता के निर्माण में उपयोग करते हैं जिनको जनता जान चुकी है " ये नाम अगर उनकी संवेदना को कहीं फक्कड़ होते या छूते हैं तो इसलिए कि एक हद तक ये जनता की दिलचस्पी का सामान्य बोध का हिस्सा होते हैं । इसलिए इन नामों में एक सीधी अपील होती है और नागार्जुन अपनी रचना में अपने समय के यथार्थ को चीर-फाड़ करते समय उस "अपील" का पूरा-पूरा फायदा उठाते हैं ।"[21]

सन् 74-75 के दौर की राजनीतिक रचनाएं जहां एक ओर शासक वर्ग की दमन, बर्बरता तथा हिंसा के बढ़ते हुए रूपों को उघाड़ती हैं, वहीं पर इन कविताओं में पूरी लयात्मकता तथा कलात्मकता का भी रूप बरकरार रखने में कवि सफल हो सका है । अपनी कविता में पैनापन तथा व्यंग्य का स्वर मुखर बनाए रखने में नागार्जुन इसलिए भी सफल हो सके हैं कि जनता के बढ़ते हुए प्रतिरोध को वो रेखांकित कर रहे होते हैं " तुम तो नहीं गयी थी[22] आग लगाने " जहां पुलिस मिलिट्री तंत्र के बढ़ते दमन तथा उत्पीड़न को उघाड़ती है, वहीं पर "इन्दु जी क्या हुआ आपको "[23], "जय प्रकाश पर पड़ी लाठियां लोकतंत्र की "[24] शासकीय वर्गों में पलती हुई पतनशील राजनीतिक संस्कृति तथा उनके दमनकारी रूपों को नंगा करती हैं । सन् 74 के दौर की बेहतरीन छोटी कविता के रूप में "बाघिन " कविता को ले सकते हैं । यह कविता कलात्मक सौष्ठव, के अद्वितीय मानदण्डों को अंकित करती है । इस कविता के माध्यम से कवि आने वाले दिनों तथा तत्कालीन शासकवर्ग के हिंसक रूप की कल्पना करते हुए कहता है :---

"लम्बी जिह्वा, मदमाते दृग फपक रहे हैं
बूंद लहू के उन जबड़ों से टपक रहे हैं
चबा चुकी है ताज़े शिशुमुण्डों को गिन गिन
गुर्राती है, टीले पर बैठी है बाघिन ।"[25]

आजादी के बाद के दौर में अनगिनत रूप में क्रांतियों का शाब्दिक जन्म हुआ, तमाम शक्ल के राजनीतिज्ञों ने तरह तरह से क्रांति की कल्पनाएं सामने रखीं । सन् 74 तक आते-आते यह लगने भी लगा था कि "क्रांति " जैसा कुछ जरूर होगा ।

इस तथाकथित क्रांतियों की बाढ़ पैदा करने वाले राजनीतिज्ञों का बाबा ने खूब मखौल उड़ाया और इस संदर्भ में लिखा कि "काश, क्रांति उतनी आसानी से हुआ करती ।"[26] बूर्जुआ राजनीतिज्ञों तथा अति साहसी वामपंथी राजनीति के अंदर जो क्रांति के अनेकानेक रूपी कीड़े किलबिला रहे थे उन पर गहरी चोट

करते हुए कवि ने "खिचड़ी विप्लव"[27], "क्रान्ति सुग बुगाई है",[28] "अगले पचास वर्ष"[29] जैसी रचनाएं लिखीं। बिना किसी श्रम से पैदा की गई क्रांतियों पर व्यंग्य करते हुए कवि ने लिखा ---

"ऊपर ऊपर मूक क्रांति, विचार क्रांति, सम्पूर्ण क्रांति
कंचन क्रांति, मंचन क्रांति, रंचन क्रांति, किंचन क्रांति
फलगुसी प्रवाहित रहेगी भीतर-भीतर तरल मदिर भ्रान्ति।"[30]

पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था के चलते जिस विकास के मार्ग को हिन्दुस्तान के शासक वर्ग ने चुना था उसी के परिणामस्वरूप 26 जून 1975 को "आंतरिक आपात्काल" लागू किया गया, जिसके तहत जनता के मौलिक अधिकारों को छीन लिया गया तथा संवैधानिक ढांचे के तहत ही सारे के सारे राष्ट्र को कैद खाने में तब्दील कर दिया गया। यह सब संविधान में उल्लिखित नियमों के तहत किया गया। ऐसा शासक वर्ग ने प्रचारित किया। लेकिन बाबा नागार्जुन इस हकीकत को दूसरी ही दृष्टि से देख रहे हैं, उनका मानना था कि

"इसके लेखे संसद-फंसद सब फिजूल हैं,
इसके लेखे संविधान कागजी फूल हैं
इसके लेखे
सत्य-अहिंसा-दमा-शांति-करुणा-मानवता
बूढ़ों की बकवास मात्र हैं
इसके लेखे दंडनीति ही परम सत्य है, ठोस हकीकत
इसके लेखे "बंदूकें ही परम सत्य है, ठोस हकीकत।"[31]

आपात्कालीन कविताओं में सबसे बेहतरीन काव्य रचना के रूप में "नेवला" को लिया जा सकता है। यह एक लम्बी कविता है, जो जेल जीवन की यंत्रणा, एकाकीपन उसकी भयानकता का बड़ा ही सजीव तथा हृदय विदारक

चित्र उपस्थित करती है । यह कविता जेल में व्याप्त घुटन और जड़ता का दस्तावेज कही जाय तो ज्यादा बेहतर होगा । जेल जीवन की अमानवीयता तथा ऊब का वर्णन बड़े ही मार्मिक ढंग से कवि करता हुआ कहता है :---

"ताजा गोश्त का लाल टुकड़ा
मजबूत सुतरी के छोर पर बंधा है
फर्श से ढाई-तीन फुट ऊपर लटकाये
अखलाक ने वो सुतरी ऊँचे थाम रखी है
मोतिया बार-बार छलांग लगा रहा है
लपक रहा है बार-बार गोश्त के टुकड़े की ओर
पूरी ताकत लगाकर उछल रहा है
गुस्से चीख रहा है - किर्र ---
किर्र --- किर्र ---- ।"[32]

आपात्कालीन दमन-उत्पीड़न के दौर में जनता की अदम्य ताकत तथा उस पर पूर्ण विश्वास के चलते कवि यह भविष्यवाणी करने में सफल हो पाता है कि "गहन नहीं लगा रहेगा हमेशा अभिनव फासिज्म का ।"[33]

हकीकत में फासिज्म की जिस काली छाया ने देश को आ घेरा था, सन् 1977 के लोक सभा चुनाव में जनता ने पूरी तरह से तानाशाही की पक्षधर ताकतों को परास्त किया । कवि ने उस समय "इस चुनाव के हवन कुण्ड से ---"[34] शीर्षक कविता लिखी । चूंकि तानाशाही प्रवृत्ति सिर्फ चुनाव में परास्त हुई थी । उसकी जड़पर प्रहार नहीं हुआ था । अत: पुरानी आर्थिक नीतियों के चलते जनता पार्टी के शासन में भी तानाशाही रुझानों का खतरा बना रहेगा । इस बात को जन कवि पहचान चुका था । उसने लिखा :---

"नये सिरे से । घिरे घिरे से । हमने फैले
तानाशाही के वे हमले

आगे भी फैले हम शायद
तानाशाही के वे हमले..... नये सिरे से
घिरे - घिरे से ।[35]

राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर घटने वाले घटनाक्रमों पर प्रतिक्रियाएं व्यक्त करते हुए नागार्जुन निश्चित रूप से जनता के उस संघर्षशील सर्वहारा वर्ग की विश्व दृष्टि के करीब दिखाई देते हैं जिस पर शोषण-उत्पीड़न की सबसे ज्यादा मार पड़ रही है । डा०शिव कुमार मिश्र का यह विश्लेषण शत प्रतिशत सत्य है कि "नागार्जुन की रचनाशीलता का एक तेवर है, उसका मुख्यांश साधारण जन की जिन्दगी, और ठेठ उस जिन्दगी के बीच से पाई गई अनुभूतियों, विचारों और कल्पनाओं से निर्मित हुआ है जो कि वह जी रही है और जिसे एक बेहतर मानवीय शक्ल देने के लिए वह निरंतर संघर्षरत है । उसके उस संघर्ष में नागार्जुन बिना शर्त उसके साथ है ।"[36]

नागार्जुन ने राजनीतिक व्यंग्य लिखने के साथ-साथ सामाजिक यथार्थपरक व्यंग्यात्मक रचनाएं भी काफी तादाद में लिखी हैं; इस तरह की रचनाओं में समाज के किसी भी वर्ग को उसकी वर्गीय कमजोरियों को नागार्जुन ने नहीं बख्शा है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि नागार्जुन जनता से प्रतिबद्ध नहीं हैं, वो कहते हैं कि मैं "बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त । संकुचित "स्व" की आपाधापी के निषेधार्थ ।"[37] प्रतिबद्ध हूं ।

नागार्जुन की यह विशेषता है कि वो यथार्थ से आंखें तरेरकर आंखें मिलाते हैं, और यथार्थ को पकड़कर अपनी कविताओं में उसकी अभिव्यक्ति करते हैं । इनकी कुछ रचनाओं में तो शुरू से आखिर तक यथार्थ और व्यंग्य भरा हुआ है । जैसे --"देखना ओ गंगा मैया", "खुरदरे पैर", "नाकहीन मुखड़ा", "अकाल और उसके बाद", "तो फिर क्या हुआ" तथा "यह कैसे होगा" आदि । निम्न मध्य व मध्य वर्गीय जीवन की असंगतियों पर भी नागार्जुन ने लिखा है ।

'तालाब की मछलियां' कविता संकलन की 'जय' शीर्षक कविता में देखें :---

'कैसा असह्य कितना जर्जर । यह मध्य वर्ग का निचला स्तर ।'

इसी तरह 'रवी ठाकुर' कविता में आत्म परिचय देते हुए कवि कहता है :---

'पैदा हुआ था मैं । दीन हीन अपठित कृषक कुल में । आ रहा हूं पीता अभाव का आसव ठेठ बचपन से । कवि । मैं रूपक हूं दबी हुई दूब का । हरा हुआ नहीं कि चरने को दौड़ते । जीवन गुजरता प्रतिपल संघर्ष में ।'[38]

नागार्जुन के यहां सामाजिक व्यंग्य गंभीर शैली और बिडम्बनात्मक पद्धति अख्तियार किये होते हैं । 'तो फिर क्या हुआ', 'सौन्दर्य प्रतियोगिता' और 'जयतिनख रंजनी' जैसी कविताएं इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं । इन कविताओं में बुर्जुआ फैशन परस्ती तथा बुर्जुआ बुद्धिजीवियों पर गहरा व्यंग्य है । वहीं पर बूढ़ों की काम लिप्सा और सौन्दर्य प्रतियोगिताओं के आयोजनों पर गहरी चोट की गई है ।

नागार्जुन की सामाजिक व्यंग्यपरक रचनाओं का मूल्यांकन करते हुए डा० नन्द किशोर नवल ने सही लिखा है कि 'वे प्राय: एक कुशल चलचित्र दिग्दर्शन की तरह अदृश्य को दृश्य, अश्रव्य को श्रव्य और स्थिर को गतिशील बना देते हैं ।'[39]

सर्वहारा की विश्व दृष्टि से लैस होने के कारण नागार्जुन यह अच्छी तरह जानते हैं कि जब तक शोषित पीड़ित जन को धार्मिक-संस्कारों, रूढ़ियों, मान्यताओं, प्राचीन सड़े गले जीवन मूल्यों से मुक्ति नहीं मिलती तब तक वो हकीकत में नये जीवन का निर्माण नहीं कर पायेगा । नागार्जुन की इस सन्दर्भ में दो कविताएं महत्वपूर्ण हैं पहली है 'पछाड़ दिया है मेरे आस्तिक ने' तथा दूसरी है 'कल्पना के पुत्र हे भगवान्' श्री विष्णु खरे का यह मूल्यांकन

उचित है कि इस तरह की अद्वितीय कविता हिन्दी में लिखी ही नहीं गयी , 'नागार्जुन की यह कविता केवल भक्ति भाव पर ही प्रहार नहीं करती, यह विश्वासों की एक पूरी प्रणाली पर बज्र की तरह गिरती है । इसकी एक-एक पंक्ति के पीछे एक-एक विस्फोट छिपा हुआ है । भारतीय समाज की प्रत्येक रूढ़ि तथा अन्ध विश्वास के विरुद्ध कबीर के बाद शायद नागार्जुन ने ही ऐसी कविता लिखी है ।' [40]

संघर्षरत कवि होने के नाते नागार्जुन जीवन के बहु आयामी दायरों में घुसकर संघर्षों में भागीदारी निभाते हैं, उनमें आत्म-दया का नितान्त अभाव है । हकीकत में 'न दैन्यं न पलायनम्' नागार्जुन के चरित्र की बुनियादी विशेषता है । इसीलिए तो कवि कहता है कि 'प्रति हिंसा ही स्थायी भाव है अपने कृषि का..... । नव दुर्वासा, शबर पुत्र मैं, शबर पितामह..... । महासिद्ध मैं, मैं नागार्जुन..... । 'प्रतिहिंसा ही स्थायी भाव है मेरे कवि का । जन जन में जो ऊर्जा भर दे, मैं उद्गाता हूं उस रवि का ।' [41] हिन्दुस्तान की अधिकांश जनता को सामन्ती शोषण , दमन-उत्पीड़न का सामना करना होता है, उनके अनुसार अपने कार्यकलापों को, विधि-विधानों को चलाना होता है । इसके कारण एक ओर जहां अधिसंख्य जनता मुखमरी की चक्की में पिस रही है, वहीं पर सामन्त गण बेहतरीन 'छप्पन भोग' का सेवन करते हैं -- कवि के ही शब्दों में :---

'कनकजीर चावल के सुरभित महीन भात
अरहर की दाल और परवर की तरकारी
कोंहड़े के फूलों के पकौड़े बड़े बड़े
तिलौड़ी, दनौड़ी, तिसियौड़ी, पापड़,
तरोई, नेनुआ, भिंडी और बैगन
सूरन और अरुई
मछली और साल

ऊपर से पुष्ट घृत, कसौंदी, अचार, नीबू
अन्त में दही, और फिर सकरौंड़ी ।"[42] .....

नागार्जुन के इस प्रकार के वर्णन में "ऊपर से पुष्ट घृत" में जो व्यंग्य है, उसमें गहरा विरोध और गहरी नफ़रत है । नागार्जुन ने कहा कि "और क्या चाहेंगे भोगेन्द्र भूमिपति । रावणान्तक दाशरथि राम के वंशधर ।" यहां पर सामन्ती व्यवस्था को पूरे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर कवि विश्लेषित कर रहा है । "विजयी के वंशधर" कविता पूरी सामन्ती व्यवस्था और उसके इतिहास का आकलन प्रस्तुत करती है ।

हिन्दी कविता में बहुत से ऐसे कवि हैं जिनके यहां प्रकृति का ठहरा हुआ, डूबा हुआ, समाज निरपेक्ष वर्णन मिलता है । लेकिन नागार्जुन की कविता में प्रकृति मानव की सहचरी, मानव की प्रत्येक क्रिया में सक्रिय भूमिका निभाती हुई दिखाई देती है । नागार्जुन के यहां मनुष्य प्रकृति का अभिनन्दन करने के लिए आतुर है और प्रकृति अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ उसके प्रति उन्मुख और उत्कंठित नज़र आती है ---

"चौकस खेतिहरों ने पाए सिद्ध के आकुल चुम्बन
शरद् पूर्णिमा धन्य हुई जन लक्ष्मी का करके अभिनन्दन
वसुधा की फैली बाहों को सुलभ हुआ सागर आलिंगन
आज रात है बे, लगाम लहरों का महलों से गठबन्धन ।"[43]

नागार्जुन के यहां बसंत ऋतु की बजाय "वर्षा" को प्रधान स्थान दिया गया है । इसके पीछे भी बाकायदा एक परिप्रेक्ष्य लगातार काम कर रहा है और वो है सामंती मानदंडों के प्रति गहरे अस्वीकार का । श्री विजयमोहन सिंह ने ठीक ही लिखा है कि "आधुनिक कवि की कविता जनता की आवश्यकताओं और रूचियों के सन्दर्भ में अपना स्वरूप ग्रहण कर रही है । अब वह सामंतों के दरबारों से बहुत दूर जीवन के खुले और फूलते-फलते सिवानों में आ खड़ी हुई है ।

इसलिए वह परम्परा के इस दाय को नये सिरे से व्यवस्थित करने की कोशिश कर रही है । वर्षा और वसंत के स्थान विपर्यय का कारण यही कोशिश है ।"[44]

"निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि बाबा की कविता का फलक मानवीय जीवन की असंख्य भावनाओं, संवेदनाओं को सहस्रबाहु की तरह समेटने, उससे ऊर्जा अर्जित करने, उसकी तथा खुद की चेतना का, नवीन जीवन मूल्यों तथा कला मूल्यों के निर्माण का बृहत् प्रयास नज़र आता है । यह प्रयास उस पूरे महासमर से अभिन्न भाव से जुड़ा हुआ है जो जनता की रोजमर्रा के जीवन में अनेक स्तरों पर चलाया पड़ रहा है ।

बाबा नागार्जुन की काव्य भाषा जहां एक गंभीर चिन्तन, सूक्ष्म जीवन दृष्टि की परिचायक है, वहीं पर जन-जीवन के बीच "पगे" शब्दों का अद्भुत प्रयोग इनकी कविताओं में दृग्गोचर होता है । अगर ग्रामीण जीवन पर कविता लिखी जायेगी तो कोशिश यही रहती है कि शब्द भी वहीं से लाये जायें, प्रकृति वर्णन के दौरान लोक-व्यवहार में प्रचलित रम्य शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है । वहीं दूसरी ओर हिन्दुस्तान की राजनीति पर सपाट और सीधे-सीधे दैनिक शब्दों का प्रयोग करके कवि राजनीति के सभी रहस्यों को बेपर्दा करता है ।

"नागार्जुन की काव्य भाषा के इस बीहड़ विशाल किन्तु जाने-पहचाने जंगल में अद्भुत नाटकीयता, संगीतमयता, ध्वनि रमणीयता और चित्रात्मकता है । काव्य भाषा की समस्त शक्तियां अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा के साथ यहां उपस्थित है ।"[45]

नागार्जुन की कविता की भाषा पर डा० शिव कुमार मिश्र ने लिखा है कि "एक-एक शब्द अद्भुत व्यंजना से भरा हुआ और एक-एक चित्र आसपास के समूचे परिदृश्य को समेटे जब इनका सिलसिला शुरू होता है तो नागार्जुन की कविता बड़े-बड़े शिल्प-सजग कवियों को चुनौती देती है ।"[46]

नागार्जुन के यहां अभिव्यक्ति के औजार के तौर पर जिन बिम्बों का प्रयोग किया गया है , वो सारे बिम्ब जन-जीवन में व्यापक रूप से जाने-पहचाने जाते हैं । इस सन्दर्भ में कवि की विशेषता यह भी है कि अधिकांश बिम्ब अभिजात बिम्ब शैली के बाहर से चुने गये हैं । "उनकी सबसे बड़ी विशेषता इनकी ताजगी है जो ठेठ जिन्दगी के बीच से उनके ग्रहण किये जाने का प्रतिफल है । ताजे, टटके और ठेठ जनता के जीवन के बीच से आने वाले ये बिम्ब अपनी साधारणता में जितने असाधारण प्रतीत होते हैं, अपनी सादगी में उतने ही कलात्मक ।"[47]

नागार्जुन ने अपनी कविता के रचाव के लिए छन्द के प्रयोग पर सबसे ज्यादा बल दिया है । इनके यहां विशेष रूप से मुक्त छंद को ही चुना गया है । मुक्त छन्द के अतिरिक्त मंदाक्रान्ता, हरिगीतिका तथा बरवै का भी अद्भुत प्रयोग दिखाई देता है । नागार्जुन की कविताओं का इस सन्दर्भ में विश्लेषण करते हुए डा० विजय बहादुर सिंह ने लिखा है कि :---

"मुक्त छंद को सहज और अनिवार्य काव्य पद्धति के रूप में स्वीकार करते हुए भी नागार्जुन तुक-लय समन्वित छंद शैली को आधुनिक काव्य के लिए मूल्यवान मानते हैं । उनकी अभिव्यक्ति का बहुत बड़ा हिस्सा इसी शैली में है । दोहा, कुण्डलियां, रोला, हरिगीतिका, मन्दाक्रान्ता, कवित्त, सवैया और बरवै तक का इस्तेमाल करते हैं ।"[48]

अपने कलात्मक सौन्दर्य और वस्तु सौष्ठव को बनाये रखकर बाबा नागार्जुन ने शिल्प के स्तर पर बहु आयामी प्रयोग किए हैं । इस तरह के प्रयोग निराला के यहां पर ही दिखाई देते हैं जैसा कि रचना कर्म की दिशा और उसके औजार से पता लगता है कि कवि के दिमाग में केन्द्रीय आदर्श महाप्राण निराला ही हैं जो कि विविध स्तरीय प्रयोगों, जनजीवन से गहरी संपृक्तता तथा राजनैतिक स्तर पर विरोध फैलने की सामर्थ्य पैदा करते रहे हैं ।

जैसा कि डा० राम विलास शर्मा ने कहा है कि :

"नागार्जुन ने लोकप्रियता और कलात्मक सौन्दर्य के सन्तुलन और सामंजस्य की समस्या को जितनी सफलता से हल किया है उतनी सफलता से बहुत कम कवि-हिन्दी से भिन्न भाषाओं में भी हल कर पाये हैं।"[49]

---00000---

चतुर्थ अध्याय की पाद टिप्पणियां

1. डा० शिव कुमार मिश्र : समकालीन जनवादी कविता अंक (क्रंक) पृ०-64
2. उपरोक्त : पृष्ठ- 62
3. हजार हजार बांहों वाली : नागार्जुन : पृ०-62
4. उपरोक्त : पृष्ठ- 154
5. उपरोक्त : पृष्ठ- 151
6. उपरोक्त : पृष्ठ- 43
7. उपरोक्त : पृष्ठ-45
8. उपरोक्त : पृष्ठ- 54
9. ,, पृष्ठ- 48
10. ,, पृष्ठ- 48
11. ,, पृष्ठ- 49
12. तुमने कहा था - नागार्जुन : पृष्ठ- 9
13. ,, ,, पृष्ठ- 17
14. ,, ,, पृष्ठ- 57
15. ,, ,, पृष्ठ- 48
16. ,, ,, पृष्ठ- 50
17. ,, ,, पृष्ठ- 50
18. ,, ,, पृष्ठ- 52
19. नागार्जुन का रचना संसार : ले० विजय बहादुर सिंह : पृष्ठ- 60-61
20. आलोचना नवांक : 56-57, पृष्ठ- 15
21. उपरोक्त :
22. खिचड़ी विप्लव देखा हमने - नागार्जुन : पृष्ठ- 9
23. ,, ,, पृष्ठ- 10
24. ,, ,, पृष्ठ- 14
25. ,, ,, पृष्ठ- 16

26. खिचड़ी विप्लव देखा हमने - नागार्जुन : पृष्ठ- 34
27. ,, ,, पृष्ठ- 29
28. ,, ,, पृष्ठ- 17
29. ,, ,, पृष्ठ- 21
30. ,, ,, पृष्ठ- 22
31. उपरोक्त : पृष्ठ- 26
32. ,, पृष्ठ- 52
33. ,, पृष्ठ- 69
34. ,, पृष्ठ- 87
35. ,, पृष्ठ- 107
36. कृंक : समकालीन जनवादी कविता अंक : पृष्ठ- 63
37. खिचड़ी विप्लव देखा हमने : पृष्ठ- 57
38. तालाब की मछलियां : नागार्जुन , से उद्धृत
39. कविता की मुक्ति : डा० नन्द किशोर नवल : पृष्ठ- 99
40. आलोचना नवांक : 56-57 : पृष्ठ- 21
41. हजार-हजार बांहों वाली - नागार्जुन : पृष्ठ- 11
42. तालाब की मछलियां : नागार्जुन से उद्धृत
43. नागार्जुन का रचना संसार : विजय बहादुर सिंह : पृष्ठ- 67
44. उपरोक्त : पृष्ठ- 67
45. उपरोक्त : पृष्ठ- 93
46. आलोचना नवांक : 54-55- पृष्ठ- 33
47. उपरोक्त : पृष्ठ- 34
48. नागार्जुन का रचना संसार : विजय बहादुर सिंह : पृष्ठ- 103
49. नयी कविता और अस्तित्ववाद : डा० रामविलास शर्मा : पृष्ठ-141 ।

उपसंहार

आजाद हिन्दुस्तान में सन् 1966-67 के बाद का समय कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है । इस समय तक आते-आते हिन्दुस्तान के शासक वर्ग के प्रति जनता में तेजी से असंतोष फैलने लगता है जिसकी अभिव्यक्ति सन् 67 के विधान सभा चुनावों से लेकर रेल हड़ताल , गुजरात एवं बिहार के जनान्दोलनों में चरम रूप में दिखाई देती है ।

जनता के अंदर व्याप्त असंतोष और असुरक्षा के भाव ने तेजी से जनान्दोलनों में व्यापक भागीदारी की भावभूमि को तैयार किया । मेरे अनुसार इस असंतोष का प्रधान कारण देश का पूंजीवादी ढंग से विकास करने वाला अर्थ सिद्धान्त है, जिसकी वजह से भारतीय जन-जीवन में व्याप्त संकट और भी गहरा हुआ, अमीर और अमीर बना, गरीब और गरीब बना ।

आर्थिक केन्द्रीकरण की इस प्रक्रिया ने, राजनीतिक सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रक्रिया को पूरी तरह प्रभावित किया जिसके चलते सत्ता का केन्द्रीकरण बढ़ता गया । न्यायपालिका को कार्यपालिका के मातहत कर दिया गया ।

इन सबके विरोध में व्यापकतम जन संघर्षों की शुरुआत हुई, जिसके दमन के लिए शासक वर्ग ने आंतरिक आपात्काल की घोषणा करते हुए संविधान में प्रदत्त सभी मौलिक अधिकारों को छीन लिया ।

इस पूरे घटना विकास का साहित्य के क्षेत्र में - विशेष रूप से -- कविता के क्षेत्र में व्यापक प्रभाव पड़ा । सन् 66-67 के जन संघर्षों तथा वैकल्पिक विचारधारात्मक रूपों के आगमन ने अकवितावादियों के ताण्डव नृत्य को बंद करा दिया ।वैकल्पिक विचारधारा के रूप में तमाम वो अवधारणायें जनता के बीच स्थान बनाने लगी जो जनसंघर्षों के प्रति वचनबद्ध थीं । इसीलिए सन् 66-67 के बाद केदार को जनवादी जीवन मूल्यों की सुरक्षा, एवं विकास

का दौर माना जाता है । वैकल्पिक जनवादी विचारधारा की स्थापना के संघर्ष के चलते सन् 71-72 तक आते-आते कविता और राजनीति के अंतसंबंध को सभी रचनाकार मानने लगे । साथ ही जनवाद और कविता के बीच के सरोकार पर भी खुलकर बहस की शुरुआत हुई जिसकी वजह से लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता की उद्घोषणाएं करती हुई रचनाएं लिखी गयीं । और चारों ओर फैले असंतोष की कविगण अपने-अपने स्तर से कविता में अभिव्यक्ति भी कर रहे थे । चूंकि इन समस्त रचनात्मक प्रयासों में सांगठनिक मदद का अभाव था । अत: बहुत सारी रचनाएं लोकतंत्र के प्रति सतही भावाभिव्यक्ति मात्र बनकर रह गयी ।

जन संघर्षों के दमन के लिए लागू किए गए 'आंतरिक आपात्काल' ने कविता के क्षेत्र में चल रही धमा - चौकड़ी पर भी पाबंदी का काम किया । तमाम रचनाकार जेलों में डाल दिए गए । हजारों बेकसूर गिरफ्तार कर लिए गए एवं सभी प्रकार की स्वतंत्रताओं को शासक वर्ग ने छीनकर देश को कैद खाने में तब्दील कर दिया ।

'आंतरिक आपात्काल' रचनाकारों के सामने नयी चुनौतियां लेकर सामने आया जिसका मुकाबला करते हुए, रचनाकारों ने अपनी अभिव्यक्ति के औजारों को भी बदला जिसके गुण और मात्रा में बेहतरीन काव्य रचनाओं का सृजन भी हो सका । जिन रचनाकारों ने कविता और तानाशाही के बीच संबंध को सही परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित कर अपनी अभिव्यक्ति को बनाये रखा तथा इस सन्दर्भ में सही कार्यनीति को तय करने में सफल हुए, वो भी रचनाकार 'प्रतिरोधी' रचना का व्यक्तित्व भी बचा पाये ।

सन् 66-67 के बाद का दौर जनवादी जीवन मूल्यों की सुरक्षा की लड़ाई का दौर है -- अत: इस पूरे दौर की समग्र प्रवृत्तियों का अंकन बाबा नागार्जुन में पाते हैं । आजाद भारत के विकास, राजनीतिक कार्यकलापों, सत्ता के आयोजनों,

सामाजिक संबंधों आदि के प्रति क्या जनवादी रवैया हो, इसकी तीव्रतम रूप में अभिव्यक्ति नागार्जुन की कविता में होती है ।

उपरोक्त घटना सत्यों को कविता के जरिये चीन्हने का प्रयास शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य है । अत: इस दौर की कविता एवं समाज की अंत संगति को तलाशने की भी कोशिश की गई है ।

---00000---

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1.	इतिहास दुबारा लिखो	: श्री रमेश रंजक
2.	इतिहास हंता	: श्री जगदीश चतुर्वेदी
3.	कविता की मुक्ति	: श्री डा० नन्द किशोर नवल
4.	खिचड़ी विप्लव देखा हमने	: श्री नागार्जुन
5.	चांद का मुंह टेढ़ा है	: श्री ग०मा० मुक्तिबोध
6.	जनवादी साहित्य के दस वर्ष	: संयोजक : श्री जहूर सिद्दीकी एवं श्री सुधीश पचौरी
7.	जंगल का दर्द	: श्री सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
8.	समकालीन भारत सर्वग्रासी संकट	: श्री ई० एम० एस० नम्बूदिरीपाद
9.	सेलेक्टेड स्पीचेज़ एण्ड आर्टिकिल्स	: श्री ज्यार्जी दिमित्रोव
10.	साहित्य और इतिहास दृष्टि	: श्री डा० मैनेजर पाण्डेय
11.	साहित्य और सामाजिक दृष्टि	: श्री डा० शिव कुमार मिश्र
12.	संसद से सड़क तक	: श्री धूमिल
13.	शब्द और कर्म	: श्री डा० मैनेजर पाण्डेय
14.	मुक्तिबोध रचनावली भाग-5	: श्री ग०मा० मुक्तिबोध
15.	महावृक्ष के नीचे	: श्री स०ही०वा० अज्ञेय
16.	नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र	: श्री ग०मा० मुक्तिबोध
17.	फिलहाल	: श्री अशोक बाजपेयी
18.	तालाब की मछलियां	: श्री नागार्जुन
19.	बाहर-भीतर	: श्री गिरधर राठी
20.	तुमने कहा था	: श्री नागार्जुन
21.	हजार-हजार बांहों वाली	: श्री नागार्जुन
22.	नागार्जुन का रचना संसार	: श्री विजय बहादुर सिंह
23.	नयी कविता और अस्तित्ववाद	: श्री रामविलास शर्मा

सहायक पत्र-पत्रिकाएं

1. आलोचना : त्रैमासिक : सं० श्री डा० नामवर सिंह
   - अप्रैल-जून, 1967 ।
   - जनवरी-मार्च 1967 ।
   - नवांक : 56-57 ।
   -नवांक : 54-55 ।
2. इकोनोमिक टाइम्स
   - 13 जनवरी 1976 ।
   - 14-15 जनवरी 1975 ।
3. उत्तरार्द्ध : सं० सव्यसाची
   अंक : 6,7,11,12
4. कल्पना : फरवरी 1961 में अज्ञेय की टिप्पणी
5. कृति : सं० निर्मल शर्मा, (समकालीन जनवादी कविता अंक)
6. सडे-स्टैण्डर्ड : 21 मार्च 1976
7. सरिता : सं० विश्वनाथ : मई (द्वितीय) 1976
8. स्वाधीनता (साप्ताहिक) : सं० अयोध्यासिंह : 28 फरवरी 1976
9. पहल : सं० ज्ञानरंजन : अंक पांच
10. नई कविता : अंक 5-6 (1960-61), अंक नं० 8(1966-67)